

सम्पादक : दिलीप कुमार

सम्पादक मंडल

बहादुर उरांव, जेवियर डायस
अजय मित्र, मछुआ गगराई
प्रवल महतो, सीताराम
सावन होरो

प्रकाशक

समग्र प्रकाशन
की ओर से सीताराम शास्त्री
C/o. बहादुर उरांव
राखा, असन्तलिया, चक्रधरपुर-833102

सम्पर्क पता :

सम्पादक, झारखण्ड दर्शन
C/o. पो० ओ० बॉक्स - 57
चाईबासा - 833201 (बिहार)

कृतज्ञता ज्ञापन :

रतन निषाद, कृष्णा मुण्डी

मुद्रक :

गोपाल दास
विवेकानन्द प्रिन्टिंग वर्क्स
चाईबासा

रचना-क्रम

सम्पादकीय	...	1
शहीद निर्मल महतो को श्रद्धांजली	...	2
झारखण्ड-विद्रोहों की भूमि —पाईकिराय मुण्डा	...	4
जंगल बचाने की एक अनोखी लड़ाई का नाम है-गंधमार्दन — बिपुल नायक	...	11
राष्ट्र नहीं होती भुक्खड़ जनता — श्याम बहादुर नम्र	...	13
हम क्या थे और क्या हो गये — अर्जुन भगत	...	15
मुण्डारी साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ — प्रो० बी० बी० नाग	...	18
आदिवासी अस्मिता, उसका संकट और समाधान का रास्ता —डॉ० रामदयाल मुण्डा	...	23
विश्व की आदिवासी जनता का आन्दोलन — मैथ्यु अरिपरम्पल	...	29
झारखण्ड आन्दोलन में बुद्धिजीवियों और युवा-शक्ति की भूमिका — अमर सिंह मुण्डा	...	32
चास की तीन औरतें — निर्मल सेनगुप्ता	...	35
झारखण्डी महिला सम्मेलन — अश्रिता पुरती	...	40
झारखण्ड आन्दोलन का एक विश्लेषण — सीताराम	...	41

“झारखण्ड दर्शन” क्यों ?

पिछले कुछ वर्षों से झारखण्ड में कुछ नई घटनाएँ घट रही हैं। शोषण और दमन का प्रतिवाद अब प्रतिरोध में बदलने लगा है। भाषण की जगह अब संघर्ष और विघटन की जगह अब संघटन ले रहा है। झारखण्ड के तमाम संगठनों ने मिलकर ‘झारखण्ड समन्वय समिति’ का गठन किया है और संघर्ष में उतर गए हैं। पहली बार भारी संख्या में छात्र एवं बुद्धिजीवियों ने आन्दोलन में आकर इसे जुझारूपन प्रदान किया है। केवल दो महीने के अन्तराल में दो बार ‘झारखण्ड बन्द’ सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ है।

इस मंजिल पर पहुँचने को पृष्ठभूमि में अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ ध्यान देने लायक हैं, जैसे रांची विश्वविद्यालय में क्षेत्रीय भाषा विभाग की स्थापना, पं० रघुनाथ मुरमू द्वारा प्रतिपादित ‘ओल चिकी’ लिपि का प्रचार-प्रसार, जन आन्दोलन के बल पर जन-विरोधी कोयल-कारो परियोजना को स्थगित रखना आदि।

जिस झारखण्ड का नाम सुनते ही चतुर्दिक शोषण और क्रूर दमन का चित्र आँखों के सामने उभर आता है, उस झारखण्ड ने अब शोषण और दमन के सामने सिर झुकाने से इंकार कर दिया लगता है। हर तरफ सक्रियता और नए विचार देखने को मिल रहे हैं।

परिवर्तन की अनेक स्वतःस्फूर्त गतिविधियों से विभिन्न संघर्षशील शक्तियों और व्यक्तियों को आपस में परिचित होना एवं उनमें वैचारिक तालमेल आवश्यक है। झारखण्ड की भाषा, सांस्कृतिक अस्मिता, शिक्षा, झारखण्ड के किसान-मजदूर-दलितों एवं महिलाओं की समस्याएँ, विकास-परियोजनाओं एवं पर्यावरण सम्बन्धी समस्याएँ आदि झारखण्ड आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं के समग्र रूप को लोगों के पास पहुँचाने की जरूरत है। इसी उद्देश्य से “झारखण्ड दर्शन” का सूत्रपात किया गया है। हम दावा नहीं करते हैं कि हम यह काम कर लेंगे। इसके लिए तो बहुत सारे प्रयासों की जरूरत है जिसमें “झारखण्ड दर्शन” भी एक विनीत प्रयास है।

झारखण्ड आन्दोलन के सक्रिय साथियों को याद होगा कि 1977-78 के दौर में ‘शालपत्र’ और “झारखण्ड वार्ता” के रूप में वीर भारत तलवार ने मनमोहन पाठक के सहयोग से ऐसा एक प्रयास किया था। विभिन्न कारणों से ये पत्रिकाएँ बन्द हो गई थीं। हम आशा करते हैं कि हमारा वर्तमान प्रयास आपके सहयोग से उन पत्रिकाओं की अगली कड़ी बनेगी।

शहीद निर्मल महतो को श्रद्धांजलि

निर्मल महतो नहीं रहे। झारखण्ड के लोकप्रिय और शक्तिशाली नेता एवं झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के अध्यक्ष, श्री निर्मल महतो की हत्या कर दी गयी। झारखण्ड आन्दोलन गरीब हो गया।

8 अगस्त '87 को दिन के 12 बजे जमशेदपुर में इंदिरा कांग्रेस के एक स्थानीय नेता वीरेन्द्र सिंह और उसके सहयोगियों ने टिस्को के चमरिया गेस्ट हाउस के सामने श्री निर्मल महतो की गोली मार कर हत्या कर दी। दिन दहाड़े की गयी इस जघन्य हत्या के घटना-स्थल पर उस वक्त इंदिरा कांग्रेस के भूतपूर्व विधायक श्री ज्ञानरंजन, झा० मु० मो० के विधायक श्री सूरज मंडल, जमशेदपुर के दो वरिष्ठ पत्रकार और एक दर्जन से अधिक इका नेता व कार्यकर्ता उपस्थित थे।

प्राप्त सूचनाओं से स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कांग्रेसियों ने श्री निर्मल महतो और उनके नेतृत्व में झारखण्डियों की बढ़ती हुई ताकत को कुचल डालने के लिये सुनियोजित ढंग से निर्मल महतो की हत्या करवा दी है।

श्री निर्मल झारखण्डियों के लिये क्या थे उनकी हत्या के बाद स्वतःस्फूर्त जन-विस्फोट से समझा जा सकता है। 8 से 10 अगस्त तक, 3 दिन जमशेदपुर बन्द रहा। 9 अगस्त को पूरा सिंहभूम बन्द रहा। 12 अगस्त को दक्षिणी छोटानागपुर और 18 अगस्त को उत्तरी छोटानागपुर बन्द रहा। श्री निर्मल महतो की शवयात्रा में करीब एक लाख लोगों ने भाग लिया। अभूतपूर्व! इसके पहले किसी भी लोकप्रिय नेता की मौत पर जमशेदपुर में इतने लोग उनकी शवयात्रा में शामिल नहीं हुए थे।

इतने जबर्दस्त जन-प्रतिवाद के बावजूद मौत का यह सौदा कांग्रेसियों के लिए फायदेमंद ही था क्योंकि निर्मल उतने बड़े थे। अब यह झारखण्डियों के ऊपर निर्भर करेगा कि वे इस मौत की कीमत चुकाते हुए आगे चलकर इस सौदे को कांग्रेसियों और अन्य झारखण्ड विरोधियों के खिलाफ पलट सकेंगे या नहीं।

37 वर्ष की कच्ची उम्र में शहीद हुए निर्मल महतो का आदर्श बचपन से ही दूसरों की मदद करना था। घर में माँ की तरह छोटे भाईयों की सेवा से प्रारम्भ इस आदर्श ने आगे चल कर शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ झारखण्डियों के संघर्ष के नेतृत्व का रूप धारण किया। शुभ्र चरित्र वाले निर्मल झारखण्ड पार्टी के एक तरुण कार्यकर्ता के रूप में अपना राजनीतिक जीवन शुरू किया। 1980 में वे झारखण्ड मुक्ति मोर्चा में शामिल हुए और तेजी से कदम बढ़ाते हुए अप्रैल 1984 में मोर्चा के अध्यक्ष बने। झारखण्ड के सचेत लोगों ने शुरू में संदेह प्रकट किया था कि क्या इतनी बड़ी पार्टी का अध्यक्ष बनने के योग्य हैं निर्मल? लेकिन आगे चलकर लोगों ने समझा कि निर्मल इस पद से भी बहुत बड़े थे।

शांत-स्थिर दिमाग से झारखण्डियों को संघर्ष के लिए सदा ललकारनेवाले निर्मल दुश्मनों के लिये बहुत भारी पड़ने लगे थे। गरीब बच्चों को पढ़ाई और खेल-कूद में मदद करना, गरीब लड़कियों की शादी में मदद करना, आदिवासियों की छीनी गयी जमीनों को वापस दिलाना, हरिजनों को उनके अधिकार दिलाना आदि कार्य तो उनकी दिनचर्या थे। लेकिन सबसे बड़ी बात यह थी कि निर्मल के नेतृत्व ने झारखण्डियों को, खासकर धालभूम

अंचल में, एक ताकत प्रदान की थी। इस ताकत की एक अभिव्यक्ति यह थी कि जहाँ पहले जमशेदपुर में ठेके बिहारियों, बंगालियों, मारवाड़ियों, गुजरातियों और पंजाबियों की ही मुख्यतः मिलते थे, अब वे ठेके झारखण्डी ठेकेदारों को भी मिलने लगे थे, बल्कि निर्मल के नेतृत्व में झारखण्ड आंदोलन के समर्थन की मदद से झारखण्डी मध्यम वर्ग के कुछ उद्यमी व्यक्ति ये ठेके छीनने लगे थे। निश्चय ही इंदिरा कांग्रेस झारखण्डियों के शक्तिशाली बन कर उभरने के पक्ष में नहीं था और उसने हमारे प्रिय निर्मल की जान ले ली।

आन्दोलन

शहीद निर्मल को झारखण्ड में आयी हुयी पतनशीलता का अंत तक शिकार बनाया नहीं जा सका। वे अपनी विशिष्टता कायम रखे रहे। उन्होंने झारखण्ड आन्दोलन को आगे बढ़ाने के हर कदम का समर्थन किया।

नेतृत्व में अन्य प्रमुख लोगों की विरोधिता के बावजूद उन्होंने मोर्चा के प्रतिनिधि के रूप में मजदूर नेता श्री रतिलाल महतो और अन्य को झारखण्ड समन्वय समिति के गठन के प्रयासों में शामिल होने के लिए भेजा। आजसू (ऑल झारखण्ड स्टूडेंट्स यूनियन) के जन्म और विकास में निर्मल महतो ने ठोस योगदान किया।

आज जब झारखण्ड आन्दोलन नयी मंजिलों पर पहुँच रहा है तो हर पग पर निर्मल जैसे एक बड़े नेता की कमी महसूस की जायेगी। पता नहीं, कब एक दूसरा निर्मल हमें मिलेगा! फिर भी हमारा दिल कहता है कि निर्मल महतो की शहादत बेकार नहीं जायेगी। उनकी शहादत सदा झारखण्डियों को संघर्ष की प्रेरणा देती रहेगी।

शहीद निर्मल महतो अमर रहे!

खदानों के कारण बनों का विनाश

वन आधारित पहाड़िया आदिवासी मौत के कगार पर

अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए राजमहल के पहाड़ी अंचलों में बसने वाले पहाड़िया आदिवासियों ने अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध किये थे। आजकल उनकी आवादी लगातार घटती जा रही है। 1961 ई० में इनकी संख्या एक लाख सत्तर हजार जो 1971 में घटकर एक लाख एक हजार हो गई। 1983 में इनकी आवादी 99,000 है, यानि प्रतिवर्ष 3000 पहाड़िया मौत के शिकार हो रहे हैं।

(साभार—इकॉनॉमिक टाइम्स, 4 अगस्त 1987)

अनुसूचित जनजाति का दर्जा हासिल करने का संघर्ष

सदियों से जमींदार, ठेकेदार एवं महाजनों के सामाजिक तथा आर्थिक शोषण के शिकार होकर उत्तर प्रदेश के बान्दा जिले के 'कोल' आदिवासी असहाय-सी जिन्दगी जीने के लिए विवश हैं। वे बंजर भूमि में झोपड़ियाँ बना कर रह रहे हैं और जीवन की बुनियादी जरूरतों से भी वंचित हैं। हाल ही में वे अपने अस्तित्व को बचाने के लिए अनुसूचित जनजाति का दर्जा पाने के लिए संघर्ष शुरू किए हैं।

(साभार—इकॉनॉमिक टाइम्स, 5 नवम्बर 1986)

झारखण्ड-विद्रोहों की भूमि

(बागदी विद्रोह से बिरसा आन्दोलन तक)

—पाइकिराय मुन्डा

भारत में प्रथम सशस्त्र किसान विद्रोह को जन्म देने का श्रेय झारखण्ड* को ही प्राप्त है। यह ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ मेदिनीपुर के बागदी आदिवासियों का सशस्त्र संग्राम था।

मुख्यतः आदिवासियों एवं दलितों की भूमि झारखण्ड में ब्रिटिश आक्रमण और शोषण के खिलाफ अनगिनत लड़ाईयाँ हुई हैं। अपनी आजादी और सामाजिक न्याय की रक्षा के गौरवपूर्ण संघर्षों की गाथाओं से भरा पड़ा है झारखण्ड का इतिहास। प्रस्तुत लेख इन्हीं में से कुछ प्रमुख संघर्षों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है—

बागदी विद्रोह

1616-17 में जमींदार शोभा सिंह और उड़ीसा के पठान सरदार रहीम खाँ के नेतृत्व में मुगल शासन के शोषण और अत्याचार के खिलाफ विद्रोह हुआ था। यह दरअसल इस अंचल के बागदी नामक आदिवासी किसानों का विद्रोह था। ये विद्रोही युद्ध करते हुए मुर्शिदाबाद, कासिम-बाजार, राजमहल, मालदह और हुगली पर अधिकार प्राप्त कर वर्तमान कलकत्ता तक पहुँच गए। उसके समीप स्थित तान्ना के मुगल दुर्ग को उन्होंने घेर लिया। इस वक्त अंग्रेज और पुर्तगाली सौदागरों ने अपने जंगी जहाज और सैनिक मुगल सेना की सहायता को भेजे, जिसके कारण मुगल सेना ने आक्रमण करके विद्रोह को दबा दिया। इस सहायता के लिए अंग्रेज सौदागरों के हाथ कलकत्ता, सुतानुटी और गोविन्दपुर बेच दिया, और यहीं पर वर्तमान कलकत्ता आबाद है।

यद्यपि शोषण के खिलाफ बागदी की लड़ाई तो मात्र एक शुरुआत थी, किन्तु इसके तुरन्त बाद ही 'गोराई' आदिवासियों ने जमीन्दारी शोषण के खिलाफ विद्रोह किए। सन 1760 में मेदिनीपुर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में आया।

कम्पनी और जमीन्दारों की लूट-खसोट के कारण आदिवासी किसान अभावग्रस्त और भुख-मरी से जीने के लिए बाध्य हुए। मेदिनीपुर के जंगल महल के 'खेरा' और 'माझी' आदिवासियों ने अंग्रेजों एवं जमींदारों के खिलाफ कई वर्षों तक युद्ध किए पर अंत में दबा दिए गए, तब चुआड़ों ने हथियार उठाये।

विद्रोह के कारणों के बारे में इतिहासकार लिखते हैं (जे० बोस—'मेदिनीपुर का इतिहास') —1766 में कम्पनी ने फैसला किया कि मेदिनीपुर के उत्तर और पश्चिम भाग के जंगल महल में सेना भेज कर सभी स्वतंत्र जमीन्दारों को माल-गुजारी देने के लिए बाध्य करेंगे और उनके दुर्गों को तोड़कर बरबाद कर देंगे। इस समाचार के फैलने के साथ ही 1767 के शुरु में लगभग एक सौ मील में फैले सारे जंगल महल में भयंकर विद्रोह की आग जल उठी।

रामगढ़, लालगढ़, जामबनी, झालदा के जमीन्दार परास्त किए गए किन्तु घाटशिला के चुआड़ों ने धालभूमगढ़ के राजा के समर्थन में अंग्रेजों के साथ 1767 से 1772 तक लगातार बहादुरी से लड़े और उन्हें राजा की संप्रभुता

*प्रस्तावित झारखण्ड राज्य में बंगाल के पुरुलिया, मेदिनीपुर एवं बाँकुड़ा, उड़ीसा के सुन्दरगढ़, मयूरभंज, संबलपुर और बयोंकर, मध्य प्रदेश के सुरगुजा एवं रायगढ़ तथा बिहार के राँची सिहभूम, पलामू, डबारीबाग, गिरिडीह, दुमका, गुमला, लोहरदगा, देवघर, गोड्डा तथा साइबगंज कुल इक्कीस जिले शामिल हैं।

मानने के लिए बाध्य कर दिया। चूआड़ विद्रोह पुनः 1798-99 में बांकुड़ा एवं मेदिनीपुर के कुछ क्षेत्रों में उभरा और पूरे इलाके में फैल गया।

जे सी प्राइस ने लिखा "संक्षेप में कहा जा सकता है कि साल के अन्त में जिले का कोई अंचल नहीं बचा, जहाँ विद्रोहियों का हमला न हुआ हो। इससे अधिकारियों की मानसिक हालत कैसी हो गयी थी, यह इसी से समझा जा सकता है कि रात में मेदिनीपुर शहर के रास्तों में पहरा देने के लिए पूरे साल सेना नियुक्त रही।"

जून 1798 में मेदिनीपुर के चूआड़ और पाइक (जमीन्दार की पुलिस) विद्रोहियों के साथ उड़िसा के पाइक भी शामिल हो गए। अंग्रेजों ने क्रमशः समझा कि केवल फौज के बल पर विद्रोह को दबाया नहीं जा सकेगा, तब उन्होंने पाइको एवं चूआड़ सरदारों को छीनी हुई जमीन वापस दी एवं अन्य सुविधा देकर ही शांत कर पाए। फिर भी मेदिनीपुर लम्बे समय तक शांत नहीं रहा, वहाँ नायकों के विद्रोह हुए जो 1806 से 1816 यानि दस वर्षों तक चले। वे अंतिम दम तक युद्ध करते रहे।

हो विद्रोह तथा कोल विद्रोह

सिंहभूम के हो बहुल क्षेत्र में हो लोगों का प्रथम विद्रोह 1820-27 तक जारी रहा। 1820 में अंग्रेजों ने सिंहभूम को अपने अधीन में लेने का निर्णय किया। यह निर्णय पोड़ाहाट के राजा की अपनी मर्जी से ब्रिटिश द्वारा शासित होने की आत्म स्वीकृति के फलस्वरूप थी, इसके लिए वे सालाना 101/- रु० मालगुजारी देने को तैयार हुए। इस स्वीकृति की कुछ शर्तें थीं—अंग्रेजों को खरसवां एवं सरायकेला के सामंतों को उनकी (पोराहाट) प्रभुता के अधीन लाना तथा हो कबीले के विद्रोहों को कुचल देना जिनपर उनका दावा था कि वे उनकी प्रजा हैं। अंग्रेजों ने पहली शर्त मानने से इंकार किया किन्तु दूसरी शर्त मान ली, यह जाने बगैर कि हो लोगों ने अपनी आजादी कभी भी किसी को नहीं बेची

थी। वे अनभिज्ञ थे कि राजा का असली इरादा हो लोगों को दबाना ही था। इसकी जिम्मेदारी मेजर रफसेज को दी गई।

मेजर रफसेज हो लोगों को राजा की अधीनता में लाने के लिए उनका दोस्त बनने का दिखावा किया। उन्होंने रफसेज को अपने अंचल में काफी अन्दर तक घुसने दिया और चाईबासा के निकट पड़ाव डालने दिया। यहाँ एक दिन रफसेज की सेना के सेवकों पर कुछ सशस्त्र हो लोगों ने हमला कर एक घसियारा को मार दिया और कुछ को घायल कर पहाड़ियों में भुम हो गए। उन्हें घेरने के लिए लेफ्टिनेन्ट मेटलैण्ड के अधीन कुछ घुड़सवार और पैदल सेना भेजे गए। रफसेज भी जब उक्त गांव पहुँचे तो देखा कि घसियारा की लाश के पास 60 आदिवासी अपने हथियार ताने खड़े थे। ज्योंही कम्पनी की सेना नजदीक आई वे बाज की तरह घोड़ों और सिपाहियों पर टूट पड़े और सभी मार डाले गए। शाम को रफसेज ने खतरे को महसूस किया और दूसरे दिन अपनी सेना की एक टुकड़ी कुटियालोर गांव भेजा जहाँ हो लोग काफी संख्या में जमा हुये थे। मेटलैण्ड अपनी टुकड़ी के साथ ज्योंही गांव के पास पहुँचा आदिवासियों ने उनका स्वागत तीरों की वर्षा से किया।

मेटलैण्ड ने उन्हें भगाने के लिये नीचड़ा-पूर्वक गाँव में आग लगा दी, लेकिन इसके बावजूद हो लोगों ने बड़ी दृढ़ता से मुकाबला किया। परन्तु आखिर में सिर्फ तीरों से फिरंगी सेना की गोलियों का मुकाबला नहीं करने की बजह से उत्तरी अंचल के हो लोगों ने आत्म समर्पण कर दिया।

लेकिन तभी दक्षिण अंचल के हो लोगों ने मोर्चा सम्भाला और रफसेज को काफी परेशान कर दिया तब किसी प्रकार रफसेज जिला छोड़कर संबलपुर पहुँचे। उसके जाते ही उत्तर और दक्षिण के हो लोगों के बीच युद्ध छिड़ गया। दक्षिण के हो गुलामी कतई पसन्द नहीं करते थे।

एक देशी सूबेदार के नेतृत्व में हथियारों से लैस एक सौ सैनिक राजा और उत्तर के हो लोगों की मदद को भेजे गए। सूबेदार कुछ सिपाहियों के साथ कोल्हान में पैसे की बसूली करने लगा तो वहाँ उसे उसके सिपाहियों सहित काट दिया गया। बाव में एक किले में छिपे बाकी सिपाहियों पर हो लोगों ने हमला किया। इस विजय के बाद उन्होंने पोड़ाहाट राज के अधिकांश हिस्सों को उजाड़ते हुए सरायकेला पर भी चढ़ गए। 1827 में कम्पनी की बड़ी भारी सेना के साथ एक माह तक डटकर मुकाबला करने के बाद उन्हें अंततः यह समझौता करना पड़ा कि “हम अपने को ब्रिटिश सरकार की प्रजा मानते हैं और इसके अधिकारियों के प्रति विश्वासी तथा आज्ञाकारी होने का वादा करते हैं।”

कोल विद्रोह

यह विद्रोह 1831 में मुण्डा लोगों ने किया जिसमें हो लोगों ने पूरा सहयोग दिया। इस विद्रोह का मूल कारण था परम्परागत स्वशासन की मुण्डा-मानकी प्रथा पर आक्रमण तथा अधिक से अधिक टैक्स का बोझ आदिवासियों पर लादना। ब्रिटिश सरकार विभिन्न राजाओं को इस अंचल की जमीन्दारी देकर राजस्व बसूल करती थी और ये रैयत से मनमानी बसूली करते थे। इस कारण कोलों में पहले से ही असंतोष था।

विद्रोह का तात्कालिक कारण गैरआदिवासी जमीन्दार द्वारा जमीन छीनने के अलावा उनकी स्त्रियों का भी अपहरण करना था। छोटानागपुर के महाराजा के भाई हरलाल शाही ने कुछ गांवों की पुस्तैनी जमीन छीन कर अपने प्रिय पाल गैर-आदिवासियों को दे दी। ऐसे बारह गांव सिगराय मानकी के थे, इतना ही नहीं बल्कि उनको दो बहनें भी छीन ली गईं। तथा बन्दगांव के सुरगा मुण्डा पर एक गैर आदिवासी द्वारा बड़ा अत्याचार किया गया और उसकी पत्नी को उठा लिया गया।

इस तरह अपमानित और उत्पीड़ित सिगराय एवं सुरगा ने बन्दगांव तथा रांची अंचल के आदिवासियों की सभा बुलाकर परदेशियों और उनके संरक्षकों को खत्म करने का फैसला लिया। कुछ सप्ताह बाद सिगराय और सुरगा के नेतृत्व में 700 मुण्डाओं ने उन गांवों पर हमला किया जो सिगराय से छीने गए थे, अनेक गांव लूट गए व जलाकर राख कर दिए गए। रांची और सिंहभूम मुण्डा और हो एक साथ संगठित रूप से कूद पड़े। यह विद्रोह जंगल की आग की तरह हजारीबाग, पलामू के टोरी परगना और मानभूम पश्चिमी भाग में भी फैल गया। कोलों का यह विद्रोह यहां के जमीन्दारों के खिलाफ था जिसके पहले शिकार वे गैर आदिवासी हुए जिन्होंने जमीन्दारों की सांठ-गांठ से आदिवासियों की जमीन छीनी थी।

इन्हें दबाने के लिए रामगढ़ बटालियन, बन्दूक एवं तोप सहित पैदल और घुड़सवार सैनिक दानापुर, बैरकपुर, बनारस और बगाल से भेजे गए, जो लगातार दो माह तक युद्ध किये। काफी संख्या में विद्रोही मारे गए, जिनमें प्रमुख नेता बुद्धो भगत भी थे। एक अंग्रेज के अनुमान के अनुसार कोल विद्रोह को कुचलने में लगभग 5000 वर्गमील भूमि बीरान कर दी गई। विद्रोहियों के नेता सुरगा और सिगराई के भाई अंत तक लड़ते रहे।

अंततः अंग्रेज इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कोल आदिवासियों को राजा के अधीन नहीं किया जा सकता है, अतएव उन्हें सीधे अपने हाथ में ले लिया। पोड़ाहाट, सरायकेला और खरसावाँ के सामंतों के हाथ में 23 पीड़ (1 पीड़ = 7 से 12 गांव) तथा मयूरभंज से चार पीड़ लेकर कोलों के लिये अलग अंचल कोल्हान की स्थापना की और उसे एक अंग्रेज अफसर के सुपुर्द किया, जिसका सदर दफ्तर चाईबासा बना। विल्किन्सन रूज महान कोल विद्रोह का नतीजा था। अंग्रेजों को

कोल्हान के हो समुदाय की स्वशासन की परम्परा-गत मुण्डा-मानकी प्रणाली को स्वीकार करना पड़ा।

ब्रिटिश शासन के दौरान झारखण्ड में आदिवासी विद्रोह, दो महान विद्रोहों— 'संथाल हुल' और 'बिरसा आन्दोलन' के रूप में अपने उच्चतम शिखर पर था, जो वस्तुतः विद्रोह नहीं बल्कि क्रांतिकारी आन्दोलन के निकट थे।

संथाल हुल (1855-56)

"संथाल विद्रोह के पीछे थी जमीन पर एक छत्र अधिकार की स्थापना की आकांक्षा और उसके साथ आ मिली थी संथालों की स्वाधीनता की स्पर्धा; जिसके कारण उन्होंने नारा बुलन्द किया था — स्वयं अपने अपने दलपति के अधीन स्वाधीन संथाल राज्य स्थापित करो।" (संथाल परगना गजेटियर पृष्ठ 48)

उपरोक्त उद्धरण संथाल विद्रोह के एक पक्ष को दर्शाता है। अंग्रेज लेखक ई० जे० मान ने "संथालिया एण्ड द संथाल्स" में इस विद्रोह के दूसरे पक्ष पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार विद्रोह के कारण थे :—

"प्रथमतः इस उपजाति के साथ व्यवसाय करने में महाजनों का लोभ और लूटने की प्रवृत्ति, द्वितीयतः ऋण के लिए व्यक्तिगत और वंशगत दासता की बर्बर प्रथा से उत्पन्न क्रमशः बढ़ती दुर्दशा, तृतीयतः पुलिस का असीम भ्रष्टाचार और अत्याचार और पुलिस द्वारा महाजनों के कुकर्मा में सहायता, चतुर्थतः न्यायालयों में संथालों के लिए न्याय पाना असम्भव, अन्तिम संथालों की फिजूलखर्ची।"

संथाल विद्रोह 1855-56 ई० में बिहार और बंगाल के संथाल अंचल में हुआ जो अंग्रेजों के खिलाफ तथा उनके शासन के आधार-स्तम्भ जमीन्दारों और साहुकारों के विरोध में था।

संथाल इन्हें समाप्त कर स्वाधीन एवं सुखी संथाल राज्य बनाना चाहते थे।

इसी समय भारत में सर्वप्रथम रेल लाइन बिछायी जा रही थी, इसमें नियुक्त अंग्रेज कर्मचारी संथालों की मुर्गियां, बकरे उठा ले जाते, उनकी औरतों को उठा लेते, बलात्कार कर उनकी हत्या कर देते थे। ऐसे अत्याचारों का कोई प्रतिकार न था। हालातों ने इन्हें विद्रोही बना दिया और 1811, 1820 और 1831 में इन जुल्मों के खिलाफ मोर्चे भी लगाए थे, इस बार उन्होंने बड़े पैमाने पर लड़ाई की तैयारी की। एकता के प्रतीक शालवृक्ष की शाखा हर गांव में घुमाकर 30 जून 1855 की रात को भगनाडीह गांव में लोगों को जमा होने का संदेश भेजा गया। उस रात को 400 गांवों के 10,000 से ज्यादा संथाल जमा हुए। यह गांव संथाल विद्रोह के चार नेताओं सिद्धू, कानू, चाँद और भैरव का जन्म स्थान था, ये चारों भाई थे और रेलवे में कुली का भी काम किए थे। सभा में संथालों ने शपथ ली कि जमीन्दारों, महाजनों, अंग्रेजों आदि का जुल्म बर्दाश्त नहीं करेंगे। सभा के आदेश से सिद्धू, किरता, भादु और सुन्नो माझी ने अंग्रेज सरकार, भागलपुर कमिश्नर, कलक्टर, मजिस्ट्रेट तथा दीघी एवं टिकड़ी थाना के दारोगा और कुछ जमीन्दारों के पास पत्र भेज कर 'अल्टी-मेटम' दे दिया। इसके बाद उन्होंने घोषणा की कि संथाल अंचल को दखल कर अपनी स्वाधीन शासन व्यवस्था कायम करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। तथा कुम्हारों, तेलियों, लोहारों, जुलाहों, चमारों और डोमों की हमदर्दी हमारे साथ है अतः वे हमारे साथी हैं। पाँच खेतिया बाजार में पाँच महाजनों की हत्या करके विद्रोह शुरू हुआ। इसी समय दीघी थाने के दारोगा सिद्धू और कानू आदि को गिरफ्तार करने आया तो संथालों ने उन्हें सिपाहियों सहित पकड़कर बांध दिया, अदालत बैठी और फ़ैसले के अनुसार लोगों ने दारोगा और उसके नौ सिपाहियों को मार डाला।

इस तरह 7 जुलाई 1855 में संथाल विद्रोह शुरू हुआ और उन्होंने अंग्रेजों, जमीन्दारों और महाजनों का राज उखाड़ फेंकने के लिए कलकत्ता अभियान शुरू किया। इस अभियान में केवल नेताओं के अंगरक्षकों की सेना प्रायः तोस हजार थी। तत्कालीन इतिहासकार हंटर लिखते हैं —

“जब विद्रोह का आघात आरम्भ हुआ तो उस वक्त अंचल में नियुक्त 1200 सरकारी सैनिक अस्सी मील में फैले विद्रोह के अंचल में खोजने पर भी नहीं मिले। हमारी सेना विभिन्न स्थानों में पराजित हुई।”

अंग्रेजों के बहुत से केन्द्र और नील कोठियाँ लूटी गईं तथा जला दी गईं। जेलखाने को सुरक्षित किया गया और खजाने की अधिकांश रकम एक कुएँ में छिपा दी गई। एक जगह विद्रोहियों ने प्रतिशोध से पागल होकर दो अंग्रेज महिलाओं की हत्या कर दी। सिद्धू और कानू ने महिलाओं के हत्यारों को दण्ड दिया।

विद्रोह का दमन करने के लिए अंग्रेजों ने लगभग 15,000 सुसज्जित सेना एकत्रित की, बन्दूक, तोपें और हाथी लाये गए। दूसरी ओर विद्रोहियों के पास वही पुराने हथियार, फरसा, तलवार, भाला और तीर-धनुष थे। विद्रोहियों ने प्रायः बीरभूम जिले के आधे हिस्से पर कब्जा कर लिया था फिर भी डर कर कम्पनी सरकार ने घोषणा की, यदि संथाल आत्म समर्पण कर दें तो नेताओं को छोड़कर सभी को माफ कर दिया जायगा। इस अपील के बावजूद संथाल लड़ते रहे।

चांद और भैरव भागलपुर के पास भयंकर युद्ध में मारे गए। फरवरी के तीसरे सप्ताह कानू बीरभूम जिले में मारे गए। किसी भी संथाल ने आत्म-समर्पण नहीं किया। एक अंग्रेज सेनापति ने युद्ध के बारे में लिखा— “हमने जो कुछ किया, वह युद्ध न था, जन-हत्या थी।” इस सेनापति ने एक अनुभव बताया— हुकूम था कि जंगल में जहाँ

भी धुआँ उठते देखो, वहाँ घेर लो। एक मजिस्ट्रेट हमेशा सेना के साथ जाता। इसी तरह एक गांव घेर कर मजिस्ट्रेट ने समर्पण का आदेश दिया लेकिन इसके जवाब में एक घर के दरवाजे की फांक से तीरों की बौछार हुई। सेनापति के आदेश से सैनिकों ने उस घर की दीवार में एक बड़ा सा छेद किया। उसने पुनः आत्म समर्पण का आदेश देते हुए धमकाया कि वैसा न करने पर घर के अन्दर गोलियां बरसेगी। संथालों ने इसका जवाब भी तीरों से दिया। सैनिकों ने गोलियां चलायीं। आखिर में भीतर से तीरों का आना बन्द हुआ तो सैनिक भीतर घुसे। चारों तरफ लाशें बिखरी हुई थीं सिर्फ एक बूढ़ा खून से लथपथ खड़ा था। एक सिपाही ने ज्योंही उसे हथियार रखने को कहा, बूढ़े ने अपने फरसे से उसका सिर काट लिया।

इस तरह सेना ने कठोरता एवं निर्ममता-पूर्वक संथाल विद्रोह का दमन किया। अदालत में 251 आदमियों पर मुकदमा चलाया गया। इनमें 191 संथाल थे बाकी डोम, धांगर, ग्वाला, भुईयाँ आदि। इनमें 46 नौ-दस वर्ष के बालक भी थे।

इस विद्रोह के बाद संथालपरगना अंचल अलग बना और इसके अन्दर यूरोपीय मिशनरियों को छोड़कर दूसरों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया। इन पादरियों का मुख्य काम संथालों को अंग्रेज-परस्त बनाना था। लेकिन इसके बावजूद सुखी संथाल राज्य का सपना पूरा करने के लिए फिर 1871 और 1880-81 में संथालों ने विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया था।

बिरसा आन्दोलन (1895-1900)

बिरसा आन्दोलन ने 15 वर्ष पुरानी ‘सर-दारी लड़ाई’ को एक जागरूक सामाजिक एवं राजनैतिक आन्दोलन के रूप में सही अभिव्यक्ति दी।

अन्य आदिवासी किसानों की भांति ही मुन्डारी लोग भी जमीन्दारों के हाथों अपनी

जमीनें खोने लगे, फलतः उनके बीच विद्रोह की भावनाएँ प्रबल होने लगीं। अंग्रेजों द्वारा जंगलों का आरक्षित किया जाना ही इस चिन्गारी को भड़का दिया, क्योंकि इससे न केवल वनों पर आदिवासियों के परम्परागत अधिकार को नकार दिया गया, बल्कि उनके सांस्कृतिक, जातीय और धार्मिक जीवन (जिसका मुख्य आधार वन ही था) पर सीधा आक्रमण था।

15 वर्षों तक चली सरदारी लड़ाई से मुण्डाओं को कोई भी नतीजा हासिल नहीं हुआ था। इसी पृष्ठभूमि में बिरसा का आगमन आन्दोलन को दिशा और नेतृत्व देने के लिए हुआ।

अनेक मुण्डा आदिवासियों की तरह बिरसा ने भी ईसाई धर्म की दीक्षा ली और चाईबासा के जर्मन मिशन स्कूल में शिक्षा ली। इस कारण उन्हें ब्रिटिश शासन और चर्च की भूमिका के सम्बन्धों को समझने का अवसर मिला। वे ईसाई धर्म का परित्याग करके मुण्डाओं के सरना धर्म में वापस आए। बिरसा अच्छी तरह जानते थे कि आदिवासियों की आकांक्षाएँ—शोषण, अत्याचार और गुलामी से मुक्ति—तभी पूरी हो सकती हैं जब हम तीन विभिन्न मगर आपस में अभिन्न रूप से जुड़े — आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक — मोरचों पर संघर्ष करें। उनका विश्वास था कि जमीन और जंगल पर आदिवासियों के परम्परागत अधिकार कायम करने के लिए इस धरती से ब्रिटिश शासन को खत्म करना जरूरी है।

1895 में युवा बिरसा ने आदिवासियों से लगान न देने तथा अंग्रेजी कानूनों को तोड़ने का आह्वान किया। इससे घबरा कर अंग्रेज शासकों ने 24 अगस्त 1895 को बीस वर्षीय युवक बिरसा को कैद कर जेल में डाल दिया। नवम्बर 1897 में जेल से रिहा होने के बाद वे भूमिगत हो गये। उन्होंने लोगों को अंग्रेजों के खिलाफ हथियार उठाने के लिये संगठित करना शुरू किया। 1899 के अंत में उन्होंने सीधी कार्रवाई शुरू की।

उसी साल बड़े दिन के अवसर पर उन्होंने एंग्लिकन मिशन और कैथलिक चर्च पर सशस्त्र हमला शुरू किया। लेकिन बाद में उन्होंने समझा कि यह तरीका गलत है, क्योंकि इससे ईसाई एवं गैर ईसाई आदिवासियों के बीच आपसी मतभेद पैदा होगा।

बिरसा और उनके आदिवासी तथा गैर आदिवासी अनुयायियों ने घोषणा की कि असली दुश्मन ब्रिटिश सरकार और उसके दलाल हैं। 5 जनवरी 1900 से यह आन्दोलन जंगल की आग की तरह फैल गई। ब्रिटिश सरकार इस आन्दोलन को दबाने के लिए अपनी फौजी ताकत से भिड़ गई। 3 फरवरी 1900 को बिरसा को बन्दी बना लिया गया और जेल में ही उनकी मृत्यु 9 जून 1900 को हो गई।

बिरसा आन्दोलन संथाल हुल की तरह एक व्यापक विद्रोह नहीं था किन्तु एक सामाजिक क्रांति की शुरुआत थी। उन्होंने सिद्ध और कानू की तरह शोषणमुक्त समाज का सपना देखा था।

इसे हासिल करने के लिए सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों की आवश्यकता से वे पूरी तरह अवगत थे। ईसाई एवं गैर-ईसाई आदिवासियों के बीच एकता कायम करने के लिए 'बिरसा-धर्म' की शुरुआत की जिसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं (i) एक ही ईश्वर (सिंगवोंगा) की पूजा करना (ii) भूत-प्रेत को खुश करने के लिए पशु के बलिदान को बन्द करना (iii) नशाबन्दी (iv) अपने परम्परागत हथियारों को हमेशा साथ रखना आदि।

बिरसा आन्दोलन की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए अंग्रेजों ने बाध्य होकर छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम (C. N. T. एक्ट) बनाया। आदिवासियों की भूमि का हस्तांतरण गैर-आदिवासियों के हाथों में होना ही मुख्य कारण था। अंग्रेजी काल में जितने भी विद्रोह हुए उनमें से तीन—कोल विद्रोह, संथाल विद्रोह और बिरसा आन्दोलन — राजनैतिक रूप से काफी

महत्वपूर्ण है। उन आन्दोलनों में मुख्य रूप से उठाये गए मुद्दे आज भी अनसुलझे हैं। कोल विद्रोह ने स्वशासन के प्रश्न को उठाया। संथाल विद्रोह ने शोषण और दमन की व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करने के लिए वर्ग-समन्वयकी अनिवार्यता को स्वीकार किया था। बिरसा आन्दोलन ने शोषण-मुक्त समाज के निर्माण के लिए आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक मुद्दों को लेकर लड़ने की प्राथमिकता पर बल दिया तथा समाज सुधार को भी अहम मुद्दा माना।

आज तक झारखण्ड में जो भी आन्दोलन हुए, चाहे वह मेदिनीपुर का बागदी विद्रोह (1616-17) हो या बिरसा आन्दोलन (1895-1900), उनमें जो बुनियादी तत्व हमेशा रहे, वे हैं जमीन, जंगल और स्वशासन।

यद्यपि इतिहास अपने को नहीं दुहराता तथापि उनके अनसुलझे अन्तर्द्वन्द्व नए इतिहास को बनाने में बदले हुए रूप में एक भूमिका निभाते हैं। अतः कोल्हान आन्दोलन (1980) ने कोल विद्रोह के अनसुलझे अन्तर्द्वन्द्व से प्रेरणा हासिल की। संथाल विद्रोह का संदेश सूदखोरी, महाजनी एवं जमीन्दारों के विरोध (1973) में टुंडी (धनबाद) में हुए संघर्षों के रूप में अभिव्यक्त हुआ। जंगल और जमीन का सवाल, जो बिरसा आन्दोलन का बुनियादी सवाल था, फिर से साल-सागवान की लड़ाई के रूप में (1978) में प्रज्वलित हुआ।

पुराने संघर्ष परिवर्तित सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि में नए सिरे से लड़े जा रहे हैं।

स्रोत— (1) भारत का मुक्ति संग्राम— अयोध्या सिंह

साल-बीज — मेहनत और मुनाफा

उड़ीसा से हर साल लगभग 13-14 लाख टन साल-बीज उपलब्ध होता है। प्रति टन मुनाफे की दर इस प्रकार है—

कुल व्यय = आदिवासी जमाकर्त्ताओं को दी गई मजदूरी (550 रु०) + बोरे में भरना एवं ट्रान्सपोर्ट का खर्च (300 रु०) + रायल्टी (85 रु०)
= 935 रु०

मौजूदा बाजार-दर = 1700 रु०

मुनाफा = 1700 - 935 = 765 रु०

मेहनत = प्रति किलो साल बीज जमा करने, सुखाने, छीलने तथा साफ आदि करने में 9 से 12 घण्टे लगते हैं, उसके लिये मिलते हैं सिर्फ 55 पैसे।

उड़ीसा माइनर प्रोडक्ट्स नामक व्यापारिक संस्था ने वर्ष 1981 में 16,000 टन से ज्यादा साल-बीज का सौदा किया, जिसमें कुल मुनाफा एक करोड़ से भी अधिक था।

(साभार—इकॉनॉमिक टाइम्स, 6 सितम्बर 1987)

जंगल बचाने की अनोखी लड़ाई का एक नाम है—गंधमार्दन

— विपुल नायक

1983 से गंधमार्दन में जंगल बचाने की एक अनोखी लड़ाई चल रही है। उड़ीसा के संबलपुर और बलांगीर जिलों की सीमाओं पर हैं गंधमार्दन का इलाका, जहाँ एक विशाल प्राकृतिक जंगल है। लगातार कटते जा रहे प्राकृतिक वनों में से बचे हुए चन्द वनों में से एक।

इस वन पर भी सरकार की पूँजीवादी नीति की गिद्ध दृष्टि पड़ी। इन वनों की जमीन के नीचे बाक्साइट खनिज का विशाल भंडार है—बाक्साइट, जिससे अल्यूमिनियम का उत्पादन किया जाता है। भारत अल्यूमिनियम कम्पनी ('बालको') ने जंगल को काट कर खदान चालू करने की योजना बनाई।

गंधमार्दन और इसके आस-पास के इलाकों के आदिवासी-गैर-आदिवासी किसान गंधमार्दन को अपनी माँ के समान मानते हैं। हजारों साल से यह वन उनको फल, कन्दमूल, जलावन की लकड़ी, मवेशियों के लिए चारा आदि देता आ रहा है। इस वन से निकलने वाले 22 नाले और 150 झरने उनके खेतों को पानी देते हैं। यह जंगल उनके खेतों को मुफ्त में पत्ते की खाद देता है। उनके पर्यावरण का संतुलन कायम रखता है। अर्थनीति के साथ-साथ, जंगल के साथ उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन भी जुड़ा हुआ है।

'बालको' और इस पूँजीवादी सरकार को खनिज चाहिये, जिससे वे अल्यूमिनियम बनायेंगे, उद्योगों का विस्तार होगा, मुनाफा बढ़ेगा। लेकिन इस जंगल के नष्ट होने से पर्यावरण, देश और लाखों लोगों को होने वाले भारी नुकसान की उन्हें फिक्र नहीं है।

सिर्फ जून '85 के महीने में खदान के लिए सड़क बनाने के लिये 'बालको' ने 60,000 पेड़ काट डाले। कल्पना की जा सकती है कि खदान परियोजना के पूरी तरह चालू हो जाने तक कितने लाख पेड़ कट जायेंगे, वन का कितना विनाश होगा और पर्यावरण कितना बिगड़ जायेगा।

'बालको' ने घोषणा की है कि वह कटे हुए जंगल की जगह नये पेड़ लगाने के लिए हर वर्ष 15 लाख रुपये खर्च करेगा। लेकिन स्थानीय लोग इसे व्यावहारिक नहीं मानते। उनका कहना है कि एक तो भारत में जहाँ भी उद्योगों के चलते वन वरवाद किये गये हैं वहाँ फिर से वन नहीं लगाये गये; दूसरा, पहाड़ों पर जंगल काट डालने के बाद वर्षा की तेज बौछार की वजह से जमीन की उपरी सतह की मिट्टी वह जायेगी, तेज धूप इस वृक्ष विहीन जमीन की नमी को सोख लेगा और जमीन पत्थर-सी बन जायेगी — इसके बाद उस जमीन पर और पहले जैसे वन लगाना सम्भव नहीं होगा; तीसरा, प्राकृतिक वनों में कई प्रकार के पेड़, लताएँ, झाड़ियाँ आदि रहते हैं जिनकी जगह सरकार केवल एक तरह के पेड़ लगाती है और इस प्रकार प्राकृतिक वनों की कमी कभी पूरी नहीं की जा सकती।

'बालको' खदान परियोजना का प्रारम्भिक दुष्प्रभाव लोग देख चुके हैं। गंधमार्दन से निकला दुर्गई नाला मानभंग गाँव की करीब 200 एकड़ जमीन की सिंचाई करता आ रहा था। उन्हें 'बालको' कर्मचारियों को जल की आपूर्ति करने के लिए बांध दिया गया। अब खेतों को पानी नहीं मिलता। बाक्साइट मिली मिट्टी नालों से बहती हुई आकर खेतों में एक इंच मोटी परत

बन गयी है। खेती बरबाद होती जा रही है। शुरुआत में यह हाल है तो आगे-आगे क्या होगा !

कुछ जागृत व्यक्तियों की प्रेरणा से गंधमार्दन क्षेत्र के ग्रामीणों ने गंधमार्दन वन की रक्षा की लड़ाई शुरू की थी। आज ग्रामीण खुद लड़ाई का संचालन कर रहे हैं।

अगस्त 1985 में लोगों ने गंधमार्दन सुरक्षा परिषद की स्थापना की, जिसकी शाखाएँ आज करीब 40 गांवों में फैली हुई हैं। ये शाखाएँ गांववालों से चाबल के रूप में चंदा जमा करती हैं, ग्रामीणों को संगठित करती हैं, उन्हें संघर्ष के कार्यक्रमों की जानकारी देती हैं और बालको विरोधी आन्दोलन के संदेश को दूर-दराजों तक फैलाते हैं। इस संघर्ष में औरतें भी सक्रिय रूप से शामिल हैं और कहीं-कहीं वे नेतृत्व भी करती हैं। साथ ही, बच्चे भी आन्दोलन में सक्रिय हैं।

15 अगस्त 1986 की एक घटना। एक ट्रक 'बालको' के लिए गिट्टी ले जा रही थी। बेदपल्ली गांव पर बच्चों ने ट्रक को घेर लिया। ग्रामीणों को सूचित किया गया। औरत, मर्द, बच्चे—सबने मिलकर ट्रक को खाली कर दिया। उन्होंने गिट्टी के ठेकेदार से लिखित वचन लिया कि वह

आगे बालको को गिट्टी नहीं देगा। तब जाकर ट्रक छोड़ा गया।

प्रशासन आन्दोलन को कुचलने की जी-तोड़ कोशिश कर रही है। सैकड़ों आन्दोलनकारी गिरफ्तार किये गये हैं। 4 और 19 फरवरी '86 को बालको की गाड़ी रोकनेवाले सत्याग्रहियों को, जिनमें 87 औरतें हैं, 70 कि० मी० दूर स्थित बरगढ़ जेल भेज दिया गया। प्रशासनिक जुलूम के बावजूद गंधमार्दन के निवासियों का मनोबल और आत्मविश्वास बढ़ता ही जा रहा है। उनका कहना है कि — “जबतक गंधमार्दन और पर्यावरण पर खतरा बना रहेगा, हम लड़ते ही जायेंगे। पर्यावरण विरोधी और जनविरोधी विकास को हम विकास नहीं मानते।”

झारखण्ड आन्दोलन के लिए गंधमार्दन का संघर्ष प्रेरक और मार्गदर्शक है। झारखण्ड के अधिकांश वन “विकास” की बलिवेदी पर चढ़ा दिये जा चुके हैं और बाकी भी लगातार विनष्ट किये जा रहे हैं। वनों के साथ झारखण्डियों के आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का गहरा सम्बन्ध है। जबतक झारखण्ड की जनता भी वनों की रक्षा के लिए जिदगी और मौत की लड़ाई शुरू नहीं कर देती तबतक इन थोड़े-से बचे वनों की खैर नहीं है।

मध्य प्रदेश जल विद्युत परियोजना—

आदिवासियों के लिए खतरा

बोधघाट जल विद्युत परियोजना मध्य प्रदेश के आदिवासी बहुल जिला बस्तर में 5704 हेक्टर वन-भूमि को निगल जायगी। पर्यावरण विशेषज्ञों का मानना है कि बहुमुल्य साल के जंगल, जिसमें 42 गांव बसे हैं, की क्षतिपूर्ति करना असम्भव है; जो इस परियोजना से प्रभावित होंगे। बस्तर जिला प्राकृतिक संरक्षण समिति ने इस परियोजना का विरोध करते हुए कहा है कि वरसुर क्षेत्र के करीब 30,000 आदिवासियों को उनके परिवेश और जीवन को तोड़े बिना पुनर्वास करना असम्भव है।

(साभार—इकॉनॉमिक टाइम्स, 5 नवम्बर 1986)

पर्यावरण पर एक कविता

राष्ट्र नहीं होती भुखड़ जनता

— श्याम बहादुर नम्र

- भारत में पर्यावरण दिन-व-दिन तेजी के साथ विगड़ता जा रहा है। भूक्षरण से खेती की जमीन बरबाद हो रही है। देश का १० प्रतिशत पानी प्रदूषित हो चला है। हर साल ५ लाख हेक्टर की दर से जंगल काटे जा रहे हैं। जल तथा वायु-प्रदूषण, जहरीली गैस, धुआँ आदि से लोगों का स्वास्थ्य और फसल चौपट हो रहे हैं। गांवों के बेरोजगार शहरों में आ रहे हैं जहाँ उनके लिए न घर है न पानी और न सफाई की व्यवस्था। लोगों की पारंपरिक आजीविका नष्ट हो चली है। पुरानी बीमारियों के साथ नयी बीमारियों ने भी लोगों को आ घेरा है लेकिन इलाज की व्यवस्था नहीं के बराबर। उद्योगों ने देश का ईंधन लील लिया है। जीव-जंतु और पेड़ पौधे गायब हो रहे हैं।

पर्यावरण के इस विनाश का असर गरीबों की जिंदगियों पर पड़ता है। धनी लोगों ने करोड़ों लोगों की आजीविका और स्वास्थ्य की कीमत पर, पर्यावरण को बरबाद करके, मुनाफा कमाया है और अपने लिये छोटे-छोटे स्वर्ग बनाये हैं, यही पूँजीवाद की नीति है।

पूँजीवाद कहता है कि हमें प्रकृति पर विजय प्राप्त करना है और उसी के अनुसार पूँजीवाद ने प्रकृति का विनाश किया है; और इस विजय रूपी विनाश का एकमात्र उद्देश्य है मुनाफा। थोड़े से लोगों के लिए मुनाफा और करोड़ों के लिए बीमारी, भुखमरी और मौत।

इसके विपरीत 'सरना धर्म' कहता है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करना क्या? हम तो उसके अंग हैं। हमें उसके साथ जीना है। प्रकृति का विनाश का अर्थ है हमारा विनाश। हमें प्रकृति की रक्षा करनी है। हमें प्रकृति की पूजा करनी चाहिए।

पूँजीवादी मोग मुनाफा की प्रक्रिया को बचाने को ही देश को बचाना समझते हैं। पूँजीवाद की प्रकृति-विरोधी और जनविरोधी नीति पर कवि श्याम बहादुर "नम्र" का एक तीखा प्रतिवाद कविता के रूप में प्रस्तुत है ●

नष्ट हो जाँय जंगल,
आम में न आये बीर;
बाग में न चहके चिड़ियाँ
कोयल को न मिले कूकने का ठौर।

मर जाँय कामधेनु या नन्दी बिपैला पानी पीकर
खत्म हो जाँय मछलियाँ, क्या करेंगी जीकर ?
कुछ किसान या मछुवारे ही तो होंगे बेरोजगार,
जहरीले धुएँ से कुछ लाख लोग ही तो होंगे बीमार
या छोड़ देंगे दुनिया, कुछ हज़ार।

क्या फर्क पड़ता है ?
राष्ट्र हित सर्वोपरि है,
उसके लिए इतना तो चलता है।

इसलिए पर्यावरण की बात मत उठाओ
विकास की दौड़ से राष्ट्र को पीछे मत लौटाओ,
राष्ट्र नहीं होता पर्यावरण, राष्ट्र नहीं होता जंगल;
राष्ट्र नहीं होता मछली, राष्ट्र नहीं होता कोयल।
राष्ट्र नहीं होती नदी, राष्ट्र नहीं होती हवा
राष्ट्र नहीं होते पशु, राष्ट्र नहीं होती फसल।

और जनता ?

वह तो, राष्ट्र पर कुर्बान होने के लिए होती है ।
इसलिए—

मर जाँय कुछ हजार या लाख
जहरीले धुएँ या पानी से,
तो उन्हें शहीद का दर्जा दिया जाता है,
उनके शव के साथ उनके मरने का समाचार भी
दफना या जला दिया जाता है ।

तुम पूछते हो कि राष्ट्र कहते किसे हैं ?

ऐसे सवाल राष्ट्र-द्रोही पूछते हैं ।

तुम्हें मालूम होना चाहिए कि—

बन्दुकों गुलाम हैं उनकी,
जिनका नियन्त्रण है पूँजी पर,
जो बड़े-बड़े उद्योग चलाते हैं,
फैक्टरी के कचरे से नदियाँ सड़ाते हैं,
साफ हवा में जहर मिलाते हैं ।
छीन लिया है, जिन्होंने सूरज को,
और छिपा दिया है
धुएँ के पहाड़ के पीछे ।

सुबह होने की खबर मिल सके,
इसलिए मिल का भौंपू बजाते हैं ।
छलनी कर दिया है धरती का कलेजा
अंधाधुन्ध ऊर्जा के दोहन से,
राष्ट्र यानी खुद के लिए
हर साल अरबों मुनाफा कमाते हैं ।

रे, राष्ट्र वो हैं, जिनके हाथ में है सम्पन्नता,
राष्ट्र नहीं होती भुखड़ जनता ।

और जनता अब कमजोर हो गयी है,
बीमार पड़ने लगी है,
गैस के धुएँ से मरने लगी है ।
वह मुआवजा भी माँगती है,
जरूरत से ज्यादा सीना तानती है ।

इसलिए वे राष्ट्र के विकास के लिए
मशीन चाहते हैं,
जनता से आदमी नहीं,
मशीन होने का यकीन चाहते हैं ।
क्योंकि मशीनें बीमार नहीं पड़तीं,

मशीनें गैस के धुएँ से नहीं मरती;

मशीनें हड़ताल नहीं करतीं,

मशीनें सवाल नहीं करतीं,

मशीनें मुआवजा नहीं माँगतीं,

मशीनें सीना नहीं तानतीं ।

मशीनें आदमी की तरह नहीं सोचतीं,

मशीनें मुक्ति का मार्ग नहीं खोजतीं ।

आदमी कुछ ज्यादा सोचने लगा है

इसलिए राष्ट्र को खतरा होने लगा है ।

इसलिए देश में सिर्फ वो रहेंगे और मशीनें रहेंगी,
जनता जबतक आदमी से मशीन न बन जाय,
संगीने रहेंगी ।

आदमी तो उन्होंने बहुत पहले खत्म कर दिया होता
अगर उन्हें बाजार का ख्याल न रहा होता ।

क्योंकि, मशीनें सिर्फ ऊर्जा खाती हैं;

वो बाजार में माल खरीदने कहाँ जाती हैं ?

उनके माल के लिए बाजार जरूरी है ।

और आदमी को जिन्दा रखना

उनकी मजबूरी है ।

इसलिए वे आदमी को मरने नहीं देंगे,

उसे मशीन बनायेंगे,

कम्प्यूटर के ताल पर उसको नचायेंगे ।

मुहल्ले-मुहल्ले गांव-गांव टी० वी० पहुँचायेंगे ।

जैसा वे चाहते हैं,

वैसी बात रोज-रोज

ठोंक-ठोंक सबके दिमाग में घुसायेंगे ।

वो ऐसा दिखायेंगे विज्ञान का कमाल,

कि लोग भूल जायेंगे भूख का सवाल

उनके लिए जरूरी है कि आदमी

एक सी हरकत करें

पर एक न रहें,

वे जिधर चाहें, वह उधर बहे

राष्ट्रीय एकता के नाम पर आपस में दंगा करें,

देश की इज्जत के लिए एक दूसरे को नंगा करें

वे जनता को सम्प्रदाय व जाति में बाँटे,

और लोग उनकी साम्प्रदायिक सद्भावना के

तलुवे चाटें ।

हम क्या थे और क्या हो गये हैं ।

(झारखण्ड आन्दोलन की पृष्ठभूमि)

— अर्जुन भगत

झारखण्ड क्षेत्र पर अंग्रेजों के आक्रमण के समय से जो शोषण और उत्पीड़न का राज कायम किया गया उसी की उपज है झारखण्ड आन्दोलन। झारखण्ड की आजाद जनता पराधीन बना दी गयी। झारखण्ड क्षेत्र लुटेरों का चरागाह बन गया। झारखण्डियों का अपना स्वर्ग छिन गया लेकिन इस क्षेत्र में आक्रमणकारियों ने अपने लिए जो स्वर्ग बनाया उसमें झारखण्डियों को स्थान न था। होता भी कैसे ? आक्रमणकारियों ने अपना यह स्वर्ग तो झारखण्डियों की ही लाशों पर तो बनाया। इस स्थिति को मिटाकर, अपनी अस्मिता और अस्तित्व को प्रतिष्ठित करने का उनका आन्दोलन ही है झारखण्ड आन्दोलन। पहले हम जरा देखें उस प्रक्रिया को जिसके माध्यम से झारखण्डियों का स्वर्ग छीना गया।

जमीन झारखण्डियों के लिए सामूहिक उपयोग के लिए प्रकृति की देन थी, किसी की निजी सम्पत्ति नहीं। अंग्रेज सरकार ने चिरस्थायी बन्दोबस्त द्वारा जमीन को कोर्ट-कचहरी के माध्यम से बिक्री की चीज बना दी। आदिवासियों के निवास-स्थल एवं आजीविका के मुख्य साधन जंगलों को आरक्षित और संरक्षित वनों का नाम देकर आदिवासियों को जंगलों से खदेड़ दिया गया और वनों के उपयोग से उन्हें वंचित कर दिया। झारखण्ड की जनता का आर्थिक जीवन दूभर हो गया। उनका सामुदायिक जीवन तोड़ दिया गया।

वनों के व्यावसायिक उपयोग और माल-गुजारी की वसूली के अलावा झारखण्डियों के दुख-तकलीफ के अन्य कारण भी थे। झारखण्ड की भूमि का खनिजों से समृद्ध होना उनकी दुर्दशा

का एक बड़ा कारण बन गया। यहाँ लोहा और कोयला का इफरात भण्डार है जो औद्योगीकरण की प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। पूँजीवाद की इसी जरूरत ने स्थानीय जनता के लिये एक दुष्चक्र को जन्म दिया। खदानों, उद्योगों और उनसे सम्बन्धित गतिविधियों के लिए लाखों लोगों की बेदखली, उनकी आजीविका के साधनों का विनाश आदि द्वारा उन्हें अधिकाधिक संख्या में कंगाल बना दिया गया और दूसरी तरफ उनकी इस कंगाली और साथ ही उनकी सामुदायिक परम्पराओं और सामाजिक-मनोवैज्ञानिक संरचना का इस्तेमाल करते हुए औद्योगीकरण और मुनाफा बढ़ाने के लिए उनको सस्ते मजदूरों में बदल दिया गया।

सिंहभूम में लौह अयस्क के खनन के इति-हास को उदाहरणस्वरूप लीजिए—

सिंहभूम के कोल्हान अंचल में उच्च कोटि के लौह-अयस्क का विशाल भंडार है। लेकिन खनिज के व्यावसायिक उपयोग के लिए दो मुख्य चीजों की जरूरत थी—(1) खनन के लिए सस्ते में जमीन की उपलब्धि और (2) पर्याप्त मजदूरों की उपलब्धि। 19वीं सदी के अन्त तक छोटानागपुर में इन शर्तों को पूरा नहीं किया जा सका।

सरदार आन्दोलन और बिरसा विद्रोह को जन्म देनेवाले कृषि-सम्बन्धी तनावों को कम करने के लिए मजबूर होकर अंग्रेजों द्वारा पारित छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम (C.N.T. Act) के कुछ पहले खदानों के लिए जमीनों के अधिग्रहण को आसान बनाने के लिए 1894 में भूमि अधिग्रहण कानून बनाया गया। यह कानून

इतना व्यापक था कि इस पर पंडित मदन मोहन मालवीय की टिप्पणी ध्यान देने लायक है। उन्होंने कहा कि इस कानून में 'सार्वजनिक उपयोग' की परिभाषा इतनी व्यापक है कि व्यवहारतः इस कानून के तहत किसी भी उद्देश्य के लिए जमीनें ले ली जा सकती हैं। इस कानून के द्वारा छोटा-नागपुर काश्तकारी अधिनियम को लंगड़ा बनाकर खदान कम्पनियों का काम आसान बना दिया गया। कानून के प्रावधान के बावजूद किसी भी कंपनी ने कभी भी अधिगृहीत किसी भी जमीन के बदले कहने लायक कोई मुआवजा नहीं दिया। संक्षेप में, आदिवासियों की जिंदगियों की कीमत पर औद्योगिक पूंजी के प्रवेश का मार्ग प्रशस्त किया गया।

चौथी शर्त थी मजदूर। यह भी कोई बड़ी समस्या नहीं थी। पश्चिमी सिंहभूम में आबादी के विरल होने के बावजूद वनों पर आदिवासियों के अधिकारों और काश्तों को खतम करके सस्ते मजदूर मिलने की गारंटी की गयी।

लोहा खदानों में स्थानीय मजदूरों की अधिकांश बहाली के बावजूद मजदूर के रूप में भी आदिवासियों को फायदा नहीं हुआ। उनको अस्थायी, सुविधाहीन और अकुशल नौकरियों में ही सीमित रखा गया। उनमें हुनर न होना (क्या कभी कम्पनियों ने उन्हें प्रशिक्षित करने की कोशिश की?) और उनका मौसमी मजदूर होना इसका कारण बताया गया लेकिन असलियत यह थी की उनको अस्थायी और असंगठित रूप में रखने में कम्पनियों का खास हित था। आदिवासियों की परम्परागत और सामुदायिक जीवन पद्धति के चलते आदिवासी मजदूरों पर खदान कम्पनी को बहुत कम लागत से काम चल जाता था। झारखण्ड के अन्य स्थानों पर खदानों और औद्योगिक गतिविधियों में भी ये तथ्य लागू होते हैं।

इसके साथ-साथ, आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था का एक प्रमुख आधार वन ठेकेदारों, लकड़ी व्यापारियों और वन अधिकारियों के लूट

के क्षेत्र बन गये। वन से वंचित होने और वन के विनाश से आदिवासियों के जीवन का प्राकृतिक संतुलन बिगड़ गया। खनन कार्य के चलते जमीनें खोखली हो गयीं और इससे मिट्टी में नमी बनाये रखने की क्षमता खतम हो गयी और जमीन की उत्पादकता घट गयी। मूलतः एक फसलवाला इलाका होने एवं सिंचाई के साधनों के विनाश के चलते (और जल के प्राकृतिक स्रोतों को औद्योगिक केन्द्रों और शहरों के उपयोग में लगाते जाने के चलते) खेती का आधार सिकुड़ गया और कमजोर हो गया। पूंजीवादी जरूरतों के अनुकूल कुशलता के अभाव में झारखण्डियों की आजीविका के साधन क्षीण हो गये। इस कारण एक तरफ जहाँ सस्ते मजदूर बनना पड़ा और दूसरी तरफ उस मजदूरी से गुजारा सम्भव न होने के चलते क्षीण होती गयी आजीविका के पारंपरिक आधार पर अधिकाधिक आश्रित भी होना पड़ा।

आजादी के बाद यह स्थिति और भी गहराती चली गयी, जिसके कुछ मिसालों को देखा जाये। पिछले 3 पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान 50,000 से अधिक आदिवासी परिवार और 10,000 से अधिक हरिजन परिवार अपने वंश-गत निवास-स्थलों से बेदेखल कर दिये गये। उन्हें अपने समुदाय और सांस्कृतिक वातावरण से टूटना पड़ा। यह तो सार्वजनिक उद्योगों से विस्थापन का आँकड़ा है। निजी उद्योगों ने अलग से भारी संख्या में लोगों को बिस्थापित किया। अकेले राँची के भारी इंजिनियरिंग निगम ने 2000 से अधिक परिवारों को विस्थापित किया। वोकारो इस्पात कारखाने ने 6000 से अधिक परिवारों को उजाड़ दिया। सुवर्णरेखा बहुद्देशीय परियोजना से 12,373 परिवार विस्थापित होंगे।

एक तरफ जहाँ "आधुनिकीकरण" 'प्रगति' और "विकास" के नाम पर भारी संख्या में झारखण्डी लोग अपने ही क्षेत्र में विस्थापित (रिफ्यूजी) बना दिये गये वहीं दूसरी तरफ भारी संख्या में

बाहरी लोग आकर यहाँ बसते चले गये-नौकरियों के लिए लाखों लोग आये, हजारों सूदखोर, व्यापारी और ठेकेदार आये। खदानों और कारखानों में काम के हालात सुधारने पर झारखण्डी मजदूरों की जबरन छंटनी कर दी जाती है। 1973 में कोयला खदानों के राष्ट्रीयकरण के मात्र एक हफ्ते के अन्दर हजारों झारखण्डी मजदूर नौकरियों से हटा दिये गये और उत्तर बिहार से ऊँची जातियों के लोगों को लाकर नौकरियाँ दी गयीं।

झारखण्ड में पूँजीवाद जिस विराट पैमाने पर अपना काम करता है वह इसी एक बात से स्पष्ट है कि देश में कुल खनन-कार्य का एक-चौथाई काम छोटानागपुर और संथालपरगना में ही होता है, जबकि यह क्षेत्र देश के कुल भूभाग का मात्र 25% है। भारत में सार्वजनिक उद्योगों की पूँजी का 20% झारखण्ड में निवेश किया गया है।

वन-उत्पादों पर मात्र टैक्स के रूप में सरकार हर वर्ष औसत 30 करोड़ रु० पाती है जबकि वनों पर अपने पारम्परिक अधिकारों से वंचित आदिवासी केवल अपने घर के लिये जला-वन या घर बनाने के लिए लकड़ी ले जाने के "अपराध" में वन-रक्षकों व अधिकारियों द्वारा परेशान किये जाते हैं; उनकी महिलाओं की इज्जत-आबरू के साथ खिलवाड़ किया जाता है।

झारखण्ड के औद्योगिक विकास से झारखण्डी जनता को विनाश के सिवा कुछ नहीं मिला। डो० वी० सी० एवं अन्य बांधों ने उनके घर-जमीन-आजीविका को डुबा दिया; लेकिन उनको पानी और बिजली नहीं मिली। सिंदरी के खाद कारखाने में उनकी जमीनें गयीं, लेकिन उन्हें खाद नहीं मिला। शहरों और उद्योगों को पानी देने के लिए उनकी हजारों एकड़ जमीन हड़प ली गयी लेकिन उन्हें पेय जल नहीं मिला। झींकपानी का सीमेंट कारखाना उनको घर बनाने

की सीमेंट नहीं देता है, बल्कि वह सीमेंट के धूल से उनके स्वास्थ्य और उनके खेतों को चौपट कर देता है। नवामुण्डी, गुवा, किरिबुरु और चिड़िया के लोहा खदानों की वाशरीज से बहनेवाले गंदे पानी ने स्थानीय जलप्रणाली को दूषित करके लोगों को बीमार और खेती को चौपट कर दिया है। ये चंद उदाहरण पूँजीवादी विकास के शिकार झारखण्डियों की स्थिति को स्पष्ट करने में मदद दे सकती हैं।

औद्योगिक विकास के साथ-साथ नगरों और शहरों की संख्या बढ़ती जा रही है। लेकिन इन शहरों के बासिंदे झारखण्डी नहीं हैं, इन शहरों में उपलब्ध साधन और सुविधाएँ झारखण्डियों के लिए नहीं हैं। इन शहरों में केन्द्रित व्यापार के लम्बे हाथ सुदूर गांवों तक जा पहुँचते हैं और ग्रामांचल में बीच-बीच सूदखोरों, बिचौलियों और बनियों से बने छोटे-छोटे कस्बों का रूप धारण करते हैं। कुल नतीजा होता है कि झारखण्डी अपने ही क्षेत्र में अल्पसंख्यक होते जा रहे हैं और एक भिन्न आक्रामक संस्कृति, हमलावरों की भाषा और रीति-रिवाजों के घेरे में घिर गये हैं। उनकी खुद की संस्कृति भाषा, अस्मिता और अस्तित्व खतरे में पड़ गये हैं। अपने इन पूँजीवादी कारनामों को उनके शिकार झारखण्डियों के आक्रोश से बचाने के लिए राज्य सत्ता सुनियोजित ढंग से झारखण्डियों को दारु के नशे में डुबो रही है। "नशाबन्दी" पर दिन-रात भाषण दिलाने वाली हमारी राष्ट्रीय सरकार सालाना टैक्स के रूप में झारखण्ड से 8 करोड़ रुपये कमाती है। झारखण्ड में पेयजल का संकट है, लेकिन दारु की कोई कमी नहीं है। सरकार की उदारता का यह एक नमूना है!

इसी पृष्ठभूमि में झारखण्ड में 19वीं सदी के आदिवासी विद्रोह हुए और 20वीं सदी में उसके समग्र रूप झारखण्ड आन्दोलन का उदय हुआ और शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष और पुनर्रचना की प्रक्रिया शुरू हुई है।

मुण्डारी साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

— प्रो० बी० बी० नाग

मुण्डा जनजाति भारत के बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, असम और अंडमान में मुख्यतः निवास करते हैं। उनकी अपनी भाषा है जो मुण्डारी कही जाती है। वे कहीं भी क्यों न रहते हों, भाषा के विचार से छोटानागपुर की मुण्डारी बोलते हैं। क्योंकि छोटानागपुर से जाकर भारत के अन्य भागों में वे बस गए हैं।

छोटानागपुर में मुण्डा लोग कैसे आए इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता है। फिर भी मुण्डा लोग छोटानागपुर को बहुत दिनों तक अपना निवास स्थान बनाये थे। डोयसा और कुकुरा इलाका उपजाऊ रहा होगा और वे सुखी थे। इसकी पुष्टि एक मुण्डारी लोकगीत द्वारा की जा सकती है—

सोना लेकन दिसुम लिपि
ओकोरेम लेलद लिपि
रूपा लेकन गमय करे
चिमए रेम चिनद करे।
सोना लेकन दिसुम लिपि
डोयसा रेम लेलद लिपि
रूपा लेकन गमय करे
कुकुरा रेम चिनद करे।

(सोना-सा देश हे लिपि
तुमने कहाँ देखा है ?
चाँदी सी धरती, हे लिपि
तुमने कहाँ देखी है ?
सोना-सी देश हे लिपि
तुमने डोयसा में देखी है
चाँदी सी धरती, हे करे
तुमने कुकुरा में देखी है ।)

मुण्डारी बोली में चार भेद पाये जाते हैं—

(1) हसदः (2) नगुरी (3) तमड़िया (4) केरः

यह भिन्नता अन्य बोलियों के सम्पर्क में आकर हुई। इन चार बोली भेदों में हसदः मुण्डारी सबसे क्लिष्ट जान पड़ती है, मौलिकता परिलक्षित होती है। यह खूटी और मुरहु प्रखण्ड के पूर्वी अंचलों में बोली जाती है, और प्रायः बाह्य सम्पर्क से बहुत हद तक सदियों सुरक्षित रही। इन इलाकों में सारे के सारे मुण्डा गांव

मिलते हैं, जहाँ मुश्किल से एक-दो घर ही अन्य लोगों के होते हैं और वे भी मुण्डारी ही बोलते हैं। नगुरी मुण्डारी में नागपुरी बोली का प्रभाव पड़ा है। इसीलिए इसे नगुरी मुण्डारी कहा गया है। यह तोरपा, कर्रा, कोलेबिरा, बानो आदि क्षेत्रों में बोली जाती है। नगुरी मुण्डारी में नागपुरी शब्दों का व्यवहार बहुत होता है। पंच परगना क्षेत्र की मुण्डाओं की बोली में बंगला उच्चारण का प्रभाव दिखायी पड़ता है। बोलने के तरीके भी कुछ भिन्न किस्म के हैं। यह बुण्डू और तमाड़ के आस-पास बोली जाती है। इसलिए इसे तमड़िया मुण्डारी कहते हैं। केरः मुण्डारी राँची के इर्द-गिर्द की बोली है। इसे उरांव और मुण्डा समान रूप से प्रयोग में लाते हैं। केरः मुण्डारी में हिन्दी और नागपुरी का प्रभाव बहुत ज्यादा पड़ा है। मुण्डारी साहित्य के नव निर्माण के लिए चारों बोलियों से मौलिक शब्दों का चयन करते हुए आगे बढ़ना होगा।

अन्य भाषाओं की तरह मुण्डारी में भी प्राचीन काल में गीति-कथा कहने का प्रचलन था। सोसोवोंगा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यह मुण्डाओं की एक प्रसिद्ध धर्मगाथा है। वृत्तान्त के आधार पर जान पड़ता है कि मुण्डा और असुरों के बीच संघर्ष हुआ था। श्री जगदीश त्रिगुणायत के प्रयास से इस गीति-कथा को पुस्तक का रूप दे दिया गया है।

मुण्डाओं के बीच लोक गीत, लोक-कथाएँ और कहानियाँ भरी पड़ी हैं। किन्तु सदियों तक वे बाह्य सम्पर्क में न रहने के कारण लोक-गीत, लोक-कथाएँ और कहानियाँ उन्हीं तक सीमित रहे। कुछ लोगों का ध्यान संग्रह करने की ओर गया और इसी के बदौलत डब्ल्यू० जी० आर्थर जो रांची में कमिश्नर थे, उन्होंने लोक-गीतों का संग्रह कराया और 'मुण्डा दुर्गा' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ। श्री जगदीश त्रिगुणायत ने 'बाँसुरी बज रही' में लोक गीतों का और 'मुण्डा लोक-कथाएँ' में लोक कथाओं का प्रकाशन कसया। कुछ पुराने कहानियों का भी संग्रह हुआ है और यह काम श्री भैया राम मुण्डा ने किया है और 'दण जमाकन् कानिको' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ है।

लोक गीत के प्रकार हैं—मगे, जपि, जदुर, गेना, और-जदुर, करम और अइन्दि। मगे या जरपा गीत षोष महीने से लेकर माघ महीने तक गाये जाते हैं। जपि फाल्गुन महीने में गाये जाते हैं और शिकार से लौटने के समय गाते हैं। उनमें शिकार का उत्साह, हथियारों की चमक, प्रवाह भरे गीत होते हैं। चैत महीने से आषाढ़ महीने तक जदुर गीत गाए जाते हैं। गेना और और-जदुर उसी के पूरक हैं जो नृत्यों की एकरूपता में कुछ परिवर्तन लाने के लिये बनाये गए हैं। जदुर वसन्त गीत हैं। सावन महीने से लेकर कार्तिक महीने तक करम गीत गाए जाते हैं। करम गीतों में कुछ एकान्त संगीत भी हैं जो नृत्य के अखाड़े से हट कर बरसात की सूनी घाटियों के लिये बनाये गये हैं, जिसे चिटिद् कहते हैं। अधिकांश करम गीतों में नारी सुन्दरता का वर्णन रहता है। अइन्दि गीत विवाह के अवसर पर गाते हैं। वर और वधू के घरों में विवाह सम्पन्न होने के एक सप्ताह पहले से ही गांव की युवतियाँ गाती हैं। विवाह के दिन तो गीत पर और ही जोर पड़ जाता है। मुण्डारी लोक-गीत आकार में दो से चार पदों में है। प्रत्येक पद दो वाक्यों का

होता है। गीत अखाड़े में गाए जाते हैं और सुनने वाले उसे आसानी से याद कर लेते हैं।

विषय के ख्याल से मुण्डारी लोक-गीतों को विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है। उनमें प्रकृति वर्णन, बाह्य सम्पर्क तथा आदर्शवादी विचार होते हैं। मुण्डा लोग शुरू से ही प्रकृति की गोद में रहे हैं। शिकारी युग में शिकार को खोज में एक जंगल से दूसरे जंगल में घूमते रहे हैं, तो कभी कन्द-मूल की खोज में। उसने वन में खिलने वाले फूलों को नजदीक से देखा है। पहाड़ों के बीच बहने वाले झरने के मीठे जल से हमेशा अपनी प्यास बुझाते रहे हैं। इसलिये उन्होंने प्रकृति की सुन्दरता का वर्णन अपने लोक-गीतों में किया है। एक लोक गीत है—

बुरु मदुकम् हले
बुरु मदुकम् हो
बेड़ सरजोम हले
बेड़ सरजोम।

बुरु मदुकम् हले
रिबि-रिबि तन हो
बेड़ सरजोम हले
गस-गस तन।

(पहाड़ी महुआ साथी
पहाड़ी महुआ
घाटी साखू, साथी
घाटी साखू
पहाड़ी महुआ, साथी
झरझरा रहा है
पहाड़ी साखू, साथी
गहगहा रहा है।)

बाह्य लोगों से मुण्डाओं का सम्पर्क हुआ तो उन्हें कष्ट का अनुभव हुआ। क्योंकि उन्हें उनकी भाषा समझ में नहीं आती थी। इस सन्दर्भ में एक लोक-गीत—

ददय दिकु कजि दो
ददय कगे इतुओ:

ददय बंगालिया दो
ददय कगे सरिओ:

(हे भाई दिकु भाषा
हे भाई, मुझसे सीखी नहीं जाती
हे भाई, बंगला भाषा
हे भाई, मुझसे जानी नहीं जाती ।)

मुण्डारी लोक-गीतों में आदर्शवादी विचार भी आए हैं। समाज में अच्छे लोग रहें, यह प्रत्येक समाज की इच्छा है। मुण्डा समाज के लिए कुछ दूसरे के गुण बुरे लगते हैं। इस पर एक लोक-गीत है —

राजा गोरोब दो
अलोरेम गोरोब
दिकु पुलइ दो
अलोरेम पुलइन।
अलोरेम गोरोब
लण्डिअ को मेतम
अलोरेम पुलइन
पोअड़ि को मेतम।
(राजा की तरह गर्व
प्रिय, तुम गर्व मत करो
दिकु की तरह स्वांग
प्रिय, तुम स्वांग मत करो ।)
प्रिय, तुम गर्व मत करो
लोग तुम्हें आलसी कहेंगे
प्रिय, तुम स्वांग मत करो
लोग तुम्हें नीच कहेंगे ।)

मुण्डारी लोक-गीतों की रचना कुछ अपने ढंग की है। गीत के पहले पद में प्रश्न पूछे गए हैं तो उसके उत्तर दूसरे पद में मिलते हैं। प्रयोग के ख्याल से कुछ नये रूपकों का भी प्रयोग हुआ सा जान पड़ता है जो अन्यत्र नहीं मिलता है। यौवन की तुलना जलती हुई आग और बहते हुए पानी से किया गया है, जो भिन्न प्रकृति के हैं। आग में जलन है तो पानी में शीतलता। एक लोक-गीत प्रस्तुत है —

कचि होम लेल् लेदिअ
संगेल लेकअ जुलतन रे
कचि होम चिन लेदिअ
दगे लेकअ लिगितन् रे
क च होअ लेल लेदमे
दिसुम दो दुदुगर लेन
क च होअ चिन लेदमे
गमए दो कोअंसि लेन् ।

(क्या तुमने नहीं देखा था
जब मैं आग की तरह जल रही थी ?
क्या तुमने मुझे नहीं पहचाना था
जब मैं पानी की तरह बह रही थी ?
हाँ, मैंने तुम्हें नहीं देखा था
देश में आँधी फैली हुई थी
हाँ, मैं तुम्हें नहीं पहचाना था
घरती में कुहासा छाया हुआ था ।)

मुण्डारी लोक-कथाओं में भूत-प्रेत पर जो उनका विश्वास था उसकी चर्चा मिलती है। निष्कर्ष है कि नाराज होने पर वे मनुष्य को तरह-तरह का कष्ट पहुँचा सकते हैं। वन्य प्राणियों में सियार और पक्षियों में कौआ चालाक माना गया है।

पुरानी कहानियाँ फुसंत के समय मन बहलाने के ख्याल से कही गयी हैं। कहानी को और भी रोचक बनाने के लिये बीच-बीच में गीत गाये जाते हैं। लगभग कहानी बूढ़ा और बुढ़िया से, किसी में सात भाई-बहन से, जिसमें छोटा भाई सबसे चालाक होता है। उसी प्रकार किसी कहानी में राजा-रानी की चर्चा मिलती है। खास बात तो यह है कि राजा और रानी की तरह सुखी जीवन बिताने की किसकी इच्छा नहीं होती है ? इस इच्छा की पूर्ति वे कहानी सुनकर कर लेते हैं।

मुण्डारी साहित्य में पहले गीत, कथाएँ और कहानियाँ थीं। किन्तु ज्यों-ज्यों सम्पर्क बढ़ते जा रहा है, शिक्षा का प्रसार हो रहा है, वैसे-वैसे अन्य साहित्य का प्रभाव पड़ रहा है। लेखक और कवि परिस्थिति तथा युग की माँग से अपने को हटा

नहीं पा रहे हैं। यही कारण है कि पुरानी विधाओं के अलावे नई विधाओं पर भी रचनाएँ देखने को मिलती हैं। आज कहानियाँ, लेख, कविता, नाटक, उपन्यास लिखे जा रहे हैं जो अन्य साहित्य में हैं। आज विषय-वस्तु परिस्थिति के अनुकूल बदलती जा रही है।

19वीं सदी के अन्तिम चरण में हुए बिरसा आन्दोलन का प्रभाव मुण्डा जगत पर पड़ा और लेखक तथा कवि अपनी लेखनी उठाने के लिए विवश हुए। बिरसा भगवान पर न जाने कितने गीत रचे गए, उनमें से एक गीत की पक्तियाँ ली गई हैं—

जोनोम दिसुम नंगेन् गे
बिरसा दुमड रुतन को सुसुन् तन
गोली चलओ नंगेन् गे
सयोब बिगुल सड़ितन को संगिलकद।

(जन्म-भूमि के लिए ही
बिरसा माँदर बजा रहा, लोग नाच रहे हैं
गोली चलाने के लिए ही
साहब बिगुल बजा रहा है,
सिपाही पंक्तिबद्ध हुए हैं।)

बिरसा भगवान पर एक नाटक भी लिखा गया है और इसके लेखक श्री मुखदेव बरदियार हैं। इस नए विधा पर उनका पहला प्रयास है।

आजादी की लड़ाई के सिलसिले में जब गांधीजी ने अपना आन्दोलन चलाया तो भारत ही नहीं पूरे विश्व को सत्य, अहिंसा और प्रेम का संदेश दिया। श्री भैयाराम मुण्डा ने गांधी-कथा लिखकर गांधी जी के संदेश को मुण्डा जगत में घर-घर पहुँचाया। गांधी-कथा का आकाशवाणी से प्रसारण हो चुका है।

इस समय सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक सभी पहलू पर लेख और कहानियाँ लिखी जा रही हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कविता की तुलना में लेख, कहानियाँ, नाटक और

उपन्यास कम लिखे जा रहे हैं। इस समय कविता केवल अखाड़े में गाने लायक ही नहीं लिखे जाते हैं, किन्तु अन्य साहित्य की तरह लम्बी कविताएँ लिखने का प्रयास कर रहे हैं।

औद्योगिक और शहरीकरण के भाग-दौड़ में मुण्डाओं का सम्पर्क अन्य लोगों से बढ़ गया है। हमारी संस्कृति अन्य संस्कृति के सम्पर्क में आ रही है। कमजोर संस्कृति जब विकसित संस्कृति के सम्पर्क में आयेगी तो कमजोर संस्कृति को प्रभावित करेगी। ऐसे समय में अपनी संस्कृति को बचाये रखना जरूरी हो गया है। इसी भय से भयभीत होकर विषय दिलबर हंस ने 'ससंकिर बम्बारू' नाटक लिखा होगा।

अब तक दो उपन्यास लिखे गये हैं, फिर भी सराहनीय प्रयास है। 'गुइरम' उपन्यास श्री काण्डे मुण्डा का लिखा हुआ है जो रोमान्टिक है। 'मटुरा: कानि' दूसरा उपन्यास है जो प्रकाश्य है।

धार्मिक पहलू पर बुदु बाबू, दाऊद दयाल सिंह और श्री जस्टिन एक्का की रचनाएँ मिलती हैं। बुदु बाबू की रचनाएँ प्रीतपाला और रामायण पाला के नाम से जानी जाती हैं। प्रीतपाला में कृष्ण का बचपन, यशोदा का प्यार, कदम्ब, मुरली, गोपियाँ, राधा का प्रेम, रासलीला आदि विषय हैं। रामायण पाला में सीता की खोज के लिए बन्दरों की लंका यात्रा की कथा है। दाऊद दयाल सिंह का 'सुरुद सलुकिइ' और श्री जस्टिन एक्का का 'ईश भजन' पुस्तकें प्रकाशित हो गई हैं। इन गीतों में ईसा मसीह की महिमा की चर्चा है।

आधुनिक कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं। 'हुरं जलोम' कहानी में बी० डी० ओ० और उनके सहयोगियों के कारण किस प्रकार एक निर्दोष व्यक्ति की जान जाती है। उसी प्रकार 'कुलए कोश: बलए' कहानी में, इस समय आदिवासियों की क्या स्थिति है, उसकी चर्चा है। हम बहुत दिनों तक एकान्तप्रिय रहे हैं। किन्तु इस परिस्थिति में दूसरों से दूर हटकर कोई भी समस्या

मुलाने को नहीं है, बल्कि दूसरों के साथ मिल कर रहना सीखें, इसी में हमारी भलाई है। ये दोनों कहानियाँ डॉ० रामदयाल मुण्डा की लिखी हुई नई कहानियाँ हैं।

इस तरह यह देखते हैं कि मुण्डारी में, इस क्रांति की अन्य भाषाओं की तरह साहित्य का तेजी आयेगी।

[साभार—जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा-साहित्य सन्दर्भ एवं प्रवृत्ति (प्रथम वोल्यूम) 1987]

सभ्यता के शिकार—अंदमान के आदिवासी

अंदमान द्वीप समूह भारत के मूल भूखण्ड से 800 कि० मी० दूर है तथा भारत के अधीन है। सेन्टीनेलीस, जारवा अंगी और अंदमानी यहाँ के चार आदिवासी जन जातियाँ हैं। अंदमानी जन जातियाँ औपनिवेशिक शासन और विकास के पहले शिकार हुए। 1858 में जब आज के 'पोर्ट ब्लेयर' में 'पेनल सेटेलमेंट' शुरू हुआ तो उस समय इनकी आबादी 4800 थी जो आज सिर्फ 19 है। ब्रिटिश अफसरों और भारतीय सैनिकों के आक्रमण के कारण ही उनकी मृत्यु दर अधिक रही। परन्तु शीघ्र ही तम्बाकू और अफीम भेंट देकर उन्हें पटोया गया। अंदमानियों को जंगल से निकालने के लिए 1863 में 'अंदमानीज होम' की स्थापना की गई। लेकिन जल्द ही 'अंदमानीज होम' के अंदमानियों की तरह-तरह की बीमारियों ने आ घेरा और 'होम' में जन्मे करीब 150 बच्चे दो वर्ष बाद ही मर गए।

40 वर्षों में बाहरी लोगों के सम्पर्क से 1863 में निमोनिया, 1877 में बसरा एवं सिफलिस जैसे घातक रोगों के कारण उनकी आधी आबादी समाप्त हो गई।

अंग्रेजों की अपेक्षाकृत अलगाव ने प्रारम्भ में उनकी रक्षा की, परन्तु वाह्य-सम्पर्क के घातक परिणामों के कारण वे भी बच नहीं सके। 1901 में उनकी संख्या 672 थी जो 1931 में 250 हो गई। आज उनकी संख्या मात्र 103 है। आक्रमण तथा दबंग बाहरी संस्कृति एवं जंगलों का विनाश ही उनकी तेजी से घटती आबादी के कारण हैं।

जारवा लोगों ने अंग्रेजों के प्रलोभनों से अपने को दूर रखा। दूसरी 'पेनल सेटेलमेंट' के बाद वे तितर-बितर होने को मजबूर हुए। अंग्रेजों से दूरी रखने के बावजूद उन्हें सजा मिलती रही। फलतः मजबूरन जारवा लोग बाहरी लोगों से रक्षात्मक संघर्ष शुरू किए, यह असमान युद्ध अब तक जारी है। आजादी के बाद भी जारवा लोगों के प्रति अपनाई गई नीतियाँ अंग्रेजों का ही अनुकरण हैं। हाल की गणना के अनुसार उनकी संख्या 300 से 500 तक है।

उत्तरी सेन्टीनेल द्वीप में लगभग 50 से 150 सेन्टीनेली हैं। अंदमानी अंगी और जारवाओं के विपरीत सेन्टीनेलीयों ने बाहरी लोगों के सम्पर्क में आने से इंकार कर दिया है। नशीजनत उनकी संस्कृति अक्षुण्ण है और वे शारीरिक रूप से भी स्वस्थ हैं। प्रशासन की ओर से बार-बार किए गए दोस्ताना कोशिशों का जवाब उन्होंने तीरों से दिया है।

—जाइ और रोमुलस ग्वाइटेकर

(साभार—इकॉनॉमिक टाइम्स 14 दिसम्बर, 1986)

आदिवासी अस्मिता, उसका संकट और समाधान का रास्ता

—डॉ० रामदयाल मुण्डा

आदिवासी अस्मिता संकट के दौर में हैं। हमें इस अस्मिता के विभिन्न पहलुओं, हर पहलू के केंद्रीय मूल्य और उनके संकट का पता लगाना चाहिए और अंततः इस संकट का समाधान निकालना चाहिए।

हमारी अस्मिता के आठ पहलुओं को चिह्नित किया जा सकता है:—

(1) भूगोल (2) समाज (3) अर्थ-व्यवस्था, (4) इतिहास (5) राजनीति (6) धर्म (7) दर्शन और (8) साहित्य, कला और संगीत।

आदिवासी अस्मिता, उसके संकट और समाधान के तत्व

अस्मिता के आधार	केंद्रीय मूल्य	संकट के कारण
भूगोल	सामंजस्य	सामंजस्यहीनता
समाज	समानता	स्तरों में विभाजन
अर्थ-व्यवस्था	सामूहिकता	व्यक्तिवाद
इतिहास	समायोजन	शोषण
राजनीति	जनवाद	पितृसत्तात्मकता
धर्म	नैसर्गिकता	कर्मकांड
दर्शन	नैतिक जीवन	भ्रष्टाचार
साहित्य	{ लोकवाद सामूहिक सहभागिता	{ शहरीकरण अवलोकन
कला और		
संगीत		

आइए, इन पहलुओं में से हरेक का विस्तार से विश्लेषण करें:—

1. भूगोल

हमारा भौगोलिक परिवेश प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण है। यदि हम अपने समाज के स्व-

रूप और छोटानागपुर (प्लेटो) के इतिहास का विश्लेषण करें तो ऐसा लगेगा कि मानों समाज ने इसके भूगोल के अनुरूप ही आकार ग्रहण कर लिया है।

छोटानागपुर एक ऐसी जगह है जहाँ आज भी विभिन्न युगों के लोगों से सामना होता है—प्रस्तर युग से लेकर आधुनिक मानव तक। यह बुद्ध का परिणाम नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का नतीजा है जिसके क्रम में लोगों ने भूमि के साथ सहजीवन और अपने परिवेश के साथ संतुलन कायम किया।

भूगोल ने हमारे समाज को इस कदर प्रभावित किया कि इस सम्बन्ध से हमारे धर्म की उत्पत्ति हुई। भूगोल हमारे खून का हिस्सा बन गया है। जब वनों के विनाश या हमारे पर्यावरण को नष्ट करने वाले अन्य आचरणों से संतुलन बिगड़ जाता है तब हम बेचैनी महसूस करते हैं। जबतक हम इस असंतुलन पर काबू नहीं पा लेंगे तबतक हम गहरे संकट में फँसे रहेंगे।

हमारे सामने भूमि और वन की—दो प्रमुख समस्याएँ हैं। इस संकट के लिए सरकार और व्यक्तिगत रूप से लोग, दोनों जिम्मेदार हैं। बाहर से लोग यहाँ आये और हमारी जमीनें छीन लीं। उन्होंने जंगलों को उजाड़कर तथा खदानों से धन बटोरा। आज हमारा जीवन दूर्भर हो गया है। जलावन के लिए लकड़ी जुटाना अधिकाधिक मुश्किल होता जा रहा है। इस संकट से हमें जूझना होगा। हमारी अस्मिता खतरे में है।

2. समाज

हमारी अस्मिता के इस पहलू का केंद्रीय मूल्य है समानता। हर कोई समानता की बात

करता है और उसके लिए प्रयासरत है। आदिवासी समाज में यह एक जीवित वास्तविकता है। उम्र को छोड़ कर, बाकी ऊँच-नीच, रंग, लिंग, और धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं बरता जाता है। आदिवासी समाज दुनिया के उन चंद समाजों में से हैं जहाँ स्त्री-पुरुष के बीच समानता कायम है जबकि कई सारे तथाकथित विकसित समाजों में इस देवदत्त समानता को कुचल कर रख दिया गया है।

आधुनिकता के कारण समाज स्तरों में बँट गया है। जब समानता के वातावरण में पले हुए आदिवासी को भेद-भाव के वातावरण में रखा जाता है तब वहाँ उसके लिए समन्वय करना मुश्किल हो जाता है। आफिसों में काम करनेवाले हमारे लोगों से कहा जाता है कि वे अफसरों, किरानियों, चपरासियों और दरवानों में फर्क करें। हमारी परम्परागत व्यवस्था में ऐसा भेद-भाव सोचा भी नहीं जा सकता है और इसे अमानवीय समझा जाता है।

अपने गाँव में समानता का जीवन जिये हुए किसी व्यक्ति से चपरासी जैसे बर्ताव करने की उम्मीद करने से उसके आत्म-सम्मान की भावना पर चोट पड़ना स्वाभाविक है। वह ड्यूटी की उपेक्षा करने, अनुशासन तोड़ने, गैरहाजिर रहने और पीकर ड्यूटी पर आने के लिए मजबूर होगा ही। ऐसी बातें हर जगह देखने को मिलती हैं। अपना काम ठीक से करने के बावजूद, वह हीन-भावना से ग्रस्त रहता है। वह अपना आत्म-सम्मान खो चुका है।

जहाँ देखिए वहीं लोगों को हुकम की तालीमी सिखायी जाती है, आत्म-विश्वास विकसित करना नहीं। यह हमारे समाज का संकट है। समाज के विभिन्न स्तरों में बँटने से हमने अपनी छवि और आत्म-सम्मान खो दिया है।

3. अर्थव्यवस्था

हमारी अर्थ-व्यवस्था का केंद्रीय मूल्य है

सामूहिकता, मिल-जुल कर काम करना, चाहे एक समूह में काम करना हो, खाना-पीना हो या जिंदगी का आनन्द लेना हो।

हमारी अर्थव्यवस्था के तीन प्रमुख आधार-स्तंभ हैं—भूमि, वन और उद्योग। इनमें प्रथम दो का स्थान प्रधान है। कुम्हार, लोहार, जुलाहा, तुरी आदि दस्तकार हमारी सामूहिकता के अंग थे जिनके हितों का ध्यान रखा जाता था।

सबका यह दृढ़ विश्वास था कि जमीन ईश्वर-प्रदत्त वरदान है; यह पूरे समाज के लिए है और किसी व्यक्ति द्वारा इसे हड़पा नहीं जा सकता है। व्यक्ति जितना अधिक मेहनत करेगा उतना ही पायेगा; वह अपनी मेहनत का फल पायेगा, लेकिन भूमि समुदाय के लिए ही रहेगा। इसीलिए संचालपरगना टेनेन्सी एक्ट, छोटानागपुर टेनेन्सी एक्ट और भुइयारी कानून में भूमि के सामूहिक स्वामित्व को इतना महत्व दिया गया है।

सबको अपनी (घरेलू) जरूरत के मुताबिक पेड़ काटने का अधिकार था, इस समझदारी के साथ कि जरूरतें पूरी होने के बाद पेड़ अपनी जगह बने रहें। व्यक्तिवाद के जन्म के साथ संकट पैदा हुआ। चाहे मुगल हों या अंग्रेज, जो भी हमारे लोगों के सम्पर्क में आये उसी ने साधनों की निजी मालिकाना पर जोर दिया। इस बाहरी प्रभाव से हमारे समाज में निजी सम्पत्ति की अवधारणा घुसी और हमारे ढाँचे विषाक्त हो गये।

दो भाईयों का एक उदाहरण लीजिए। परंपरा के अनुसार दोनों भाईयों को जमीन के इस्तेमाल का समान अधिकार है। लेकिन बड़ा भाई शहर में नौकरी करता है। वह जो पैसा कमाता है उसे बैंक में जमा करता है। वह अपने छोटे भाई पर दबाव डालता है कि वह उसे फसल का हिस्सा दे। छोटा भाई सोचता है; “मैं क्यों दूँ?” और वह नहीं देता है। नतीजा यह होता है कि एक कोर्ट जाता है और केस करता है। इस प्रकार के टाइटिल सूटों के मामले लाखों की

संख्या में हैं, ये समुदाय को बरबाद कर रहे हैं। व्यक्तिवाद का यही नतीजा है।

भारत में व्यक्तिवाद ने गहरी जड़े जमा ली हैं। इस बुराई को दूर करने का रास्ता निकालना आसान नहीं है। हर व्यक्ति समाजवाद और समानता की बात करता है। इस बीच व्यक्तिवाद लोगों को एक-दूसरे का विरोधी बना दे रहा है और केवल मुठ्ठीभर लोग सम्पन्न बन पाये। असली समाजवाद कहाँ है? यही संकट है

4. इतिहास

हमारे इतिहास का केंद्रीय मूल्य लोगों को स्वीकार करना या स्थान देना है। इतिहास के दौरान हमारे लोगों ने हमेशा बाहरी लोगों को अपने साथ शामिल करने की कोशिश की है, भले ही वे अभिजात्य वर्ग के ही लोग क्यों न हों। छोटानागपुर में सहिया (मित्र) बनाने की एक सुन्दर परम्परा है। विवाह के द्वारा जिसके साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है उसे 'सहिया' बनाया जाता है और उसे परिवार के सदस्यों जैसा महत्व दिया जाता है। यह प्रथा अभी कायम है।

'दिकू' शब्द का इतिहास हमें काफी समझ देता है। पहले इसका अर्थ था सम्मानित अतिथि। इसका मूल, अर्थ था 'वे लोग'। लेकिन जब 'वे लोग' धीरे-धीरे हमारा शोषण करने लगे तो 'दिकू' शब्द भी बुरे अर्थ में व्यवहृत होने लगा। यही 'दिकू' शब्द एवं बाहरी लोगों के साथ हमारे सम्बन्ध का इतिहास है, हम आशा करते हैं कि 'दिकू' शब्द को अपने पुराने अर्थ में वापस किया जा सकेगा। लेकिन जब बाहरी लोग हमारे लोगों का आदर करने एवं उचित सम्मान देने से इनकार कर देते हैं तो यह आशा बिखर जाती है।

5. राजनीतिक

कहा जाता है कि गौतम बुद्ध के का काल में लिच्छवी राजवंश के समय जनतंत्र का उदय

हुआ। पर हमारे इलाके में जनतंत्र अनादि काल से मौजूद रहा है। इसकी जड़ें हमारे इतिहास में काफी गहरी हैं। डॉ० वीरोत्तम इस बात की पुष्टी करते हैं कि गौतम बुद्ध आदिवासी क्षेत्र के व्यक्ति थे। अधिक संभावना है कि जनतंत्र का उदय इसी भूमि से हुआ था। विद्वानों को इस विषय में अच्छी तरह शोध करना चाहिए।

जब हम जनतंत्र की बात करते हैं तो हमारा मतलब 'परहा पंचायत' से होता है। यह ऐसी एक प्रणाली थी जिसमें राजा भी खेत जोतता था, लोग अपने दरवाजों पर ताले नहीं लगाते थे और हर व्यक्ति शासन-व्यवस्था में सहभागी हुआ करता था। इस व्यवस्था में पंचों की सहमति से निर्णय लिये जाते थे। ऐसी प्रणाली में टेक्स का कोई अर्थ नहीं था। यह दुखद बात है कि हमारे एक प्राचीन राजा दुर्जन साल मुगल दरबार के सम्पर्क में आये। उसके बाद हमारी परम्परागत प्रणाली लुप्त हो गयी। सिंहभूम जिले के कुछ स्थानों में इस प्रकार के जनतंत्र को फिर से कायम करने की कोशिश की गयी थी लेकिन कोशिश नाकाम रही क्योंकि सबने पूरे दिल से इसमें साथ नहीं दिया।

पितृसत्तावाद जनतंत्र के विनाश का कारण है। अवश्य भारत में जनतंत्र है लेकिन फैसले दिल्ली में लिये जाते हैं और तब उपायुक्त के आदेश से लागू किये जाते हैं।

इसे ही कहते हैं पितृ सत्ता और चमच से खिलाना। पटना और दिल्ली में बैठकर छोटानागपुर के बारे में निर्णय लिये जाते हैं। छोटानागपुर एक प्रयोगशाला बन गया है। एक के बाद एक प्रयोग जारी हैं। एक प्रयोग अभी खत्म हुआ नहीं कि दूसरा चालू हो जाता है।

6. धर्म

हमारी पहचान के एक पहलू के रूप में हमारे धर्म का केंद्रीय मूल्य है नैसर्गिकता अथवा प्रकृतिवाद। शुरू से ही हमारे जीवन पर प्रकृति

ने ऐसा जबर्दस्त असर डाला कि हमारा धर्म और हमारे जीवन के उत्सव प्रकृति के नियमों के समानांतर विकसित हुए। परम्परागत धर्म का तमाम कर्मकांड प्रकृति के साथ इस घनिष्ठता को दर्शाते हैं; सरहुल मनाते समय हमारी विभिन्न भाषाओं में जिस मंत्र का उपयोग होता है वह बिलकुल स्पष्ट है। हमारे प्रमुख त्योहार कर्मा और त्योहार में प्रयुक्त प्रतीक जीवन और प्रकृति की देन के प्रति धन्यवादज्ञापन को प्रकट करते हैं कि प्रकृति सदा उदार बनी रहेगी।

बाहर आये हुए लोगों ने हमारे लोगों को प्रकृति से विमुख कर दिया ताकि वे बाहरी लोगों के उपदेशों पर चलें। छोटानागपुर में अतिक्रमण किये हुए तीन प्रमुख धर्मों — हिंदू धर्म, इस्लाम और ईसाइयत — ने इसी तरीके का इस्तेमाल किया। मैं आशा करता हूँ कि आप मेरी इन बातों का बुरा नहीं मानेंगे। इनमें से हरेक धर्म ने हमारे लोगों को उनके पेड़ों, पहाड़ों और जंगलों से विमुख कर दिया और उनको मंदिरों या कंकरीट के भवनों में बैठा दिया। उन्होंने उनके हाथों में माइक थमा दिया ताकि भगवान प्रकृति के माध्यम से प्रकट होने के बदले किसी इंसानी बिचौलिये के माध्यम से जाना जाये। इसने एक संकट को जन्म दिया। जो भी अपना धर्म परिवर्तन करता है वह इस संकट से गुजरता है। इसे हम कर्मकांड कहते हैं।

क्या यह एक दुखद बात नहीं है कि मात्र एक क्षणिक दिखावे के सिवा अब धर्म का कोई मतलब नहीं रह गया है? अब इसका अर्थ मात्र घंटी की टिन-टिन तक ही सीमित रह गया है।

धर्म एक संस्था बन गया है लेकिन लोग अब अपने धर्म को जीते नहीं हैं। अब धर्म लोगों को प्रकृति और हमारी पहचान के स्रोत से जोड़ता नहीं है।

सौभाग्य से इस गतिरोध से उबरने के लिए सभी दिशाओं में कोशिशें हो रही हैं। इस विषय

पर कार्यरत हम सबों को आपस में और अधिक बात करनी चाहिए। धर्म का सबसे मूल तत्व आत्मा है, कर्मकांड नहीं। इस आत्मा को बचाना होगा, कहीं ऐसा न हो कि लोगों की आस्था ही खतम हो जाये, जैसा कि हम आज पश्चिम में ईसाइयों में देखते हैं। अब उनको धर्म में कोई दिलचस्पी नहीं रह गयी है। यह एक संकट है। अगर धर्म में ऐसा रूपांतर लाया जाता है कि लोग उसे जी सकें तो इस संकट को दूर किया जा सकता है।

7. दर्शन

धर्म और दर्शन पर एक साथ विचार किया जा सकता है। छोटानागपुर में दर्शन को ग्रंथों के रूप में बहुत कम पाया जा सकता है, लेकिन इसे लोगों के नैतिक जीवन में देखा जा सकता है। लोग भीतर से सच्चे और ईमानदार हैं। वे ईमानदारी से काम करते हैं और पाखण्ड व झूठ से नफरत करते हैं। अगर दुनिया में कहीं नैतिकता बची हुई है तो उसे आदिवासी समाज में देखा जा सकता है। एक आदिवासी जो कुछ कहता है उससे उसका तात्पर्य भी वही होता है और वह वही करता है जो कहता है। वह कपट व्यवहार और बेईमानी की नीचता तक नहीं उतर सकता है।

इस संदर्भ में संकट अष्टाचार के रूप में है। आम तौर पर सरकार के साथ सम्बन्धों में इस शब्द का उल्लेख किया जाता है लेकिन यह उससे बहुत अधिक व्यापक वास्तविकता है। इसका मतलब है किसी व्यक्ति को सच्चा जीवन जीने से रोकना। हमारे लिये यही संकट है।

हमारे लोगों का आदर्श है सच बोलना और सत्य आचरण करना और नैतिक व्यवहार करना लेकिन ऑफिस या परीक्षा केंद्रों में ऐसा करने का मतलब अपनी तबाही करना होता है। सच्चा व्यवहार करने से कोई लाभ नहीं होता है।

इसीलिए हमारे लोग एक जाल में फँस जाते हैं। उनको व्यवहार करना नहीं आता है। यही संकट है।

8. साहित्य, कला और संगीत

इस सिलसिले में हमारी पहचान की विशेषता है लोकरीतियाँ (लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनृत्य) और सहभागिता। हरेक से उम्मीद की जाती है कि वह जीवन की खुशियाँ मनाने में भाग लेगा। सब लोग लोकगीत और साहित्य का गान करते हैं, जिसमें सहभागिता रहती है। लोग अकेले-अकेले गाते या नाचते नहीं हैं। गीत और नृत्य एक दूसरे के पूरक हैं।

इस विषय में जिस व्यक्तिवादी रवैये का प्रवेश हुआ है उसने संकट को जन्म दिया है। विशिष्टीकरण ने विकराल रूप धारण किये हैं। अब समूह के रूप में काम करने की कोई जरूरत नहीं रह गयी है। आधुनिक गीत-संगीत में भौकने और रेंकने के अलावा और कुछ नहीं रह गया है। एक साथ सब मिल कर गाने के दिन चले गये। सरलता का विलोप हो गया है। बाजे इतने जटिल हो गये हैं कि केवल रविशंकर ही उनमें माहिर हो सकते हैं।

हमारे कलाकारों से अखाड़े से बाहर नाचने-गाने की उम्मीद कभी नहीं की जाती थी। विकास ने फिर एक बार हमें गलत रास्ते में भटक दिया है। हमारी परंपराएँ मैदान छोड़ रही हैं और लुप्त हो रही हैं। अखाड़ा की जगह अब मंच ने ले लिया है। लोग अब आनन्द के लिए नहीं नाचते, बल्कि प्रदर्शन के लिए नाचते हैं, जिसे अन्य देखते हैं।

अब आम आदमी कुछ समझ नहीं पाता है। अब कला जीवन का अंग नहीं रह गया है; कला अब उपभोग की चीज हो गई है। रेडियो और टी० वी० इस प्रकार हमारी संस्कृति को बुरी तरह प्रभावित कर रहे हैं।

पंचायत में सहमति पर निर्भर करने के बदले जिस तरह नौकरशाही में व्यक्तिगत ताना-शाह अफसरों को जिम्मा सौंप कर जिम्मेवारियों से आसानी से मुक्त हो लिया जाता है उसी प्रकार संचार माध्यम से भी पेश आया जाता है। इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों और टी० वी० का अर्थ यह है कि हम मधु मंसूरी को नागपुरिया लोकगीत गाते हुए देख सकते हैं। दूसरे केवल बैठकर निहारते रहते हैं। कभी-कभी डिस्को ग्रुप प्रकट होकर एक लोकप्रिय गीत को इस प्रकार गाता है कि उस धुन के साथ ताल-मेल रखते हुए नाचना लोगों के लिए संभव नहीं हो पाता है। अगर ग्रामीणों से नाचने के लिए कहा जाय तो उनके लिए दस से बीस दिनों तक सख्त रियाज करना पड़ेगा, जो उनके लिये असम्भव है।

इस क्षेत्र में भी व्यावसायिकता घुस गयी है। थियेटर बनाये जाते हैं और दस या बीस रुपये के टिकट बेचे जाते हैं। केवल पेशेवर और विशेषज्ञ लोग कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। दर्शकगण में भी एक विशेष वर्ग के लोग शामिल रहते हैं, जो पैसेवाले होते हैं, जैसा कि अमेरिका में देखा जाता है। अगर भविष्य में हमारी कला और संस्कृति का भी यही हाल हो तो यह एक दुःखद बात होगी।

संकट का समाधान

भूगोल के सिलसिले में अपनी धरती की अंतरात्मा को पुनर्जागृत करना होगा और सभी आयामों में उसे विकसित करना होगा। पर्यावरण को बचाने एवं पुनर्स्थापित करने का आन्दोलन आदिवासी समाज के बहुत अनुकूल है लेकिन पर्यावरण विशेषज्ञों को इस बात का खयाल रखना होगा कि यह कार्यक्रम आदिवासी समाज के साथ तालमेल रखते हुए बनाया जाये।

प्रकृति में संतुलन कायम रखने वाली ताकतों को बचाकर रखना होगा अन्यथा केवल आदिवासी समाज ही नहीं बल्कि तमाम मानव

सभ्यता के मिट जाने का गम्भीर खतरा है। अगर हम सावधान न रहें तो जीवनदायी प्रणालियाँ इतनी अधिक प्रदूषित हो जा सकती हैं कि उन्हें फिर से जीवित नहीं किया जा सके।

समाज के क्षेत्र में भी हमें समानता की भावना को फिर से कायम करना होगा जिसने हमें जिन्दगी का सामना करने उसका आनन्द लेने की क्षमता और शक्ति प्रदान किया और वर्गीकरण की प्रक्रिया से बचना होगा जो हमें विघटन की दिशा में ले जाता है। हमें यह पता लगाना चाहिए कि हमारी पहचान की सहायक बातें कौन-सी हैं। हमें मिटा देने वाली नकारात्मक शक्तियों को अनिवार्य मानकर अंधाधुंध स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए।

इसी तरह अर्थव्यवस्था के सिलसिले में, हमें सामूहिकता के एक उन्नत रूप में वापस जाना होगा और मिलजुल कर काम करने की क्षमता को फिर से हासिल करना होगा। इसके लिए काफी निस्वार्थ प्रयासों की जरूरत है।

हमारी ताकत और पहचान के घटक तत्वों पर सचेत रूप से हमें फिर से विजय प्राप्त करना होगा और लोगों को इसके बारे में खुलकर बताना होगा, जिससे वे और भी शक्तिशाली होंगी।

फिर से वापस पायी हुई, सचेत रूप से फिर घोषित एवं उन्नत पहचान के आधार पर ही हम राष्ट्र के जीवन में अपना योगदान कर सकते हैं।

साभार—‘ट्राइबल कल्चर एण्ड आइडेन्टिटी इन छोटानागपुर : चैलेन्ज बिफॉर हाईयर एजुकेशन’
से उद्धृत एवं अनुवादित।

रूपान्तर — सीताराम

“हम जानते हैं कि गोरा आदमी हमारी जिन्दगी के तौर-तरीकों को नहीं जानते हैं। उसके लिए जमीन का यह टुकड़ा जैसा है वैसा वह, क्योंकि वह एक ऐसा अजनबी है जो रात में आता है और अपनी जरूरत की चीज लेकर चला जाता है। जमीन से उसका कोई अपनापन नहीं बल्कि दुश्मनी है; जब वह उस पर कब्जा कर लेता है तब वह आगे निकल जाता है। वह अपने बाप के कब्र को भी पीछे छोड़कर निकल जाता है और उसकी फिक्र नहीं करता है। वह अपने बच्चों की जमीनों का अपहरण करता है और उसे उनकी भी कोई फिक्र नहीं है। वह अपने बाप के कब्र और बच्चों के जन्मसिद्ध अधिकार भुला देता है। वह अपनी माता, पृथ्वी और अपने भाई आकाश के साथ ऐसा बर्ताव करता है मानो, वे भेड़ों और चमकदार मनकों की तरह खरीदने, लूटने और बेचने की चीजें हों। उसकी भूख इस धरती को निगल जायेगी और केवल रेगिस्तान रह जायेगा।

हम जानते हैं: धरती इंसान का नहीं होता है, इंसान धरती का होता है। हम यह जानते हैं कि सारी चीजें एक दूसरे के साथ खून से जुड़ी हुई हैं जो धरती के पुत्रों को एक सूत्र में बांधती हैं। आदमी जिन्दगी के ताने-बानों को नहीं बुनता है; वह उसमें मात्र एक सूत्र है, वह उस जाल के साथ जो भी व्यवहार करता है, वह व्यवहार वह खुद के साथ भी करता है।”

—रेड इण्डियन प्रमुख सीट्ल (अमेरिका के आदिवासियों के मरांग गोमके) का कथन, 1854

विश्व की आदिवासी जनता का आन्दोलन

—मैथ्यू अरिपरम्पल

ट्राइब (कबीला)

जनजाति या आदिवासी ?

भारत में आदिवासी जनजातियों को सरकार ने 'जनजाति' शब्द से सूचित किया है, और 'जनजाति' शब्द को अंग्रेजी में 'ट्राइब' कहा है जब कि 'ट्राइब' का शाब्दिक अर्थ कबीला होता है। सरकार ने ट्राइब की कोई स्पष्ट परिभाषा न देते हुए अनुसूचित जनजातियों यानि 'शेडयूल्ड ट्राइब्स' में शामिल जातियों को ट्राइब बताया। विश्व के आदिवासी संगठनों ने अपने को ट्राइब यानि कबीले शब्द से सूचित करने पर आपत्ति करते हुए घोषित किया है कि वे 'इण्डिजीनस पीपुल' हैं और उन्हें इसी शब्द से सम्बोधित किया जाये। हिन्दी में 'इन्डिजीनस पीपुल' का शाब्दिक अर्थ आदिवासी जनता या लोग होता है, इसलिए हम आगे आदिवासी शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

आदिवासी आन्दोलन के नये आयाम

यूनाईटेड नेशन्स वर्किंग ग्रुप ऑन इण्डिजीनस पीपुल्स में इस वक्त यह चर्चा का विषय है कि क्या भारत के आदिवासी इण्डिजीनस पीपुल हैं ?

इस चर्चा को विश्व भर में चल रहे आदिवासी आन्दोलन के सन्दर्भ में देखना जरूरी है, जो अपनी स्वतंत्रता और सांस्कृतिक पहचान की रक्षा करने की कोशिश में जुटे हैं। वे पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ रहे हैं और औद्योगीकरण पर आधारित विकास के ढांचे के खिलाफ हैं।

ऐसे संघर्षों में मध्य एवं दक्षिण अमेरिका के आदिवासी शामिल हैं, जो अमरीकी साम्राज्यवाद और अपने पूंजीवादी देशों के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं। जहाँ कई देशों में ये लड़ाईयाँ उनके

अपने स्वतंत्र संगठनों जैसे कि 'इण्डियन काउन्सिल ऑफ साऊथ अमेरिका' के द्वारा लड़ी जा रही हैं, वहीं ग्वाटेमाला एवं पेरू जैसे अन्य कुछ देशों में ये लड़ाईयाँ क्रांतिकारी शक्तियों के नेतृत्व में भी लड़ी जा रही हैं।

ऐसी लड़ाईयों में अमेरिका और कनाडा के 'नेटिव अमेरिकन्स' भी शामिल हैं, जहाँ अपनी संस्कृति एवं जमीन की रक्षा में परमाणु शक्ति केंद्रों, बांधों एवं सिंचाई योजनाओं और 'नेटो' सैनिक गतिविधियों के खिलाफ संघर्ष जारी है। फिलोपोन्स में आदिवासियों की अपनी जमीनों के बांध से डूबने की सम्भावना के खिलाफ चल रही लड़ाई ने सशस्त्र संघर्ष का रूप ले लिया है, जो 'न्यू पीपुल्स आर्मी' के नेतृत्व में लड़ी जा रही है।

संघर्ष के साथ-साथ विश्व के आदिवासी-जन अपने पक्ष को संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सामने भी रख रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य-समूह ने प्रस्ताव रखा है कि भारत की अनुसूचित जनजातियों को आदिवासी-जन का हिस्सा माना जाए।

भारत सरकार ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया है। उसका कहना है कि अनुसूचित जनजातियाँ आदिवासी-जन नहीं हैं, क्योंकि (1) अनुसूचित जनजातियाँ भारत की मूल वासियों के एकमात्र वंशज नहीं हैं, बल्कि भारत विविध समूहों के विलयन की प्रक्रिया में हैं। (2) जनजातियों से भिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशिष्टताओं वाले बहुसंख्यक समुदाय न तो जनजातियों के प्रति कोई भेद-भाव बरतते हैं और न ही उन पर अपना प्रभुत्व कायम रखे हुए हैं; जनजातियाँ तो कई अल्पसंख्यक सांस्कृतिक एवं धार्मिक समुदायों में से हैं।

‘आदिवासी’ (इण्डिजीनस पीपुल) शब्द भारतीय नौकरशाही एवं उच्च वर्ग को मंजूर नहीं है, वो उनको अनुसूचित जनजाति या गिरिजन कहती है। आर० एस० एस० तो अपनी सुनियोजित वैचारिक योजना के अनुसार उन्हें ‘वनवासी’ या वनों के हिन्दू कहती है। लेकिन आदिवासियों के राजनैतिक संगठन धीरे-धीरे एक अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर रहे हैं। इस दिशा में पहला कदम ‘नेशनल इण्डियन ब्रदरहुड’ की स्थापना थी, जिसका नेतृत्व शुस्वाय जनजाति के जार्ज मैन्युअल ने किया था। ‘वर्ल्ड काउन्सिल ऑफ इण्डिजीनस पीपुल’ (W.C.I.P.) की स्थापना 1975 में हुई। इसकी पहली सभा में विश्व के उन्नीस देशों के 52 प्रतिनिधि शामिल हुए थे। W.C.I.P. के मुख्य उद्देश्यों में शामिल थे : (1) यह सुनिश्चित करना कि आदिवासियों को राजनैतिक, आर्थिक, एवं सामाजिक न्याय मिले। (2) उनके पारम्परिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की अवधारणाओं को स्थापित एवं मजबूत करना। अब W.C.I.P. को संयुक्त राष्ट्र संघ में एक अधिकृत गैर-सरकारी संस्था का दर्जा प्राप्त हुआ है।

आदिवासियों को इन मांगों के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया क्या रही है, यह ‘नस्लवाद एवं नस्लवादी भेद-भाव विरोधी संयुक्त राष्ट्र संघ सम्मेलन’ द्वारा प्रस्तुत घोषणा में देखा जा सकता है। इसे संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने भी मंजूर किया है।

उद्घोषणा की धारा 21 में यह कहा गया है—“सम्मेलन आदिवासियों का अपने पारम्परिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक ढांचे को बरकरार रखने के हक का समर्थन करता है, जिसमें उसकी भाषा भी शामिल है। सम्मेलन जमीन के साथ आदिवासियों के विशेष सम्बन्ध को मान्यता देता है, और इस बात पर जोर देता है कि भूमि सम्बन्धी अधिकारों और प्राकृतिक संसाधनों को उनसे न छीना जाय।”

1982 में आदिवासी समूहों के विषय पर राष्ट्र संघ के कार्य-समूहों की स्थापना हुई। उसका यह काम होगा कि वह आदिवासियों के मानव अधिकारों एवं मूलभूत स्वतंत्रताओं के उन्नयन से सम्बन्धित गतिविधियों की समीक्षा करे और उनके अधिकारों से सम्बन्धित मानदण्डों को विकसित करे।

अखिल भारतीय आदिवासी परामर्श गोष्ठी (I C T I P) का गठन

विश्व भर में आदिवासियों के संगठन बनाये जा रहे हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य आदिवासियों की पहचान को सुरक्षित रखना है। इसी प्रक्रिया के सन्दर्भ में रांची में अक्टूबर 1987 में एक अखिल भारतीय आदिवासी परामर्श गोष्ठी का गठन हुआ। इस गोष्ठी के गठन में प्रो० ए० के० किस्कू ने अगुवाई की जो जिनेवा में हुए आदिवासी जनसमूहों में राष्ट्र संघ के कार्य-समूह के सम्मेलन में मौजूद थे। वहाँ उन्हें पता चला कि जिनेवा स्थित भारत सरकार के स्थायी शिष्टमण्डल ने इस अन्तर्राष्ट्रीय मंच में कहा था कि “भारत में आदिवासी जन समूह नहीं बचे हैं; और जो थे वे विलीन हो गए हैं।” भारत लौटने के बाद उन्होंने देश का दौरा किया और कई आदिवासी नेताओं एवं संगठनों से भेंट की। उन्होंने एक गोष्ठी का आयोजन करने की जरूरत महसूस की। इसकी तैयारी समिति की बैठक रांची में 6-7 जून 1987 को हुई। इस बैठक में बिहार, मध्य प्रदेश और पश्चिम बंगाल के प्रतिनिधि शामिल हुए थे। इस बैठक में निर्णय लिया गया कि भारत सरकार के इस बयान का खण्डन करने के लिये भारत के विभिन्न आदिवासियों का उच्च-स्तरीय प्रतिनिधि-मंडल जिनेवा भेजा जाए। इस मंडल ने, जिसमें प्रोफेसर किस्कू, डॉ० निर्मल मिज और आसाम के समर ब्रह्म चौधरी शामिल थे, जिनेवा में 3-7 अगस्त 1987 के बीच हुई संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य-समूह की बैठक में अपना पक्ष पेश किया।

रांची में 17-19 अक्टूबर 1987 में अखिल भारतीय आदिवासी परामर्श गोष्ठी द्वारा आयोजित सभा में आठ राज्यों से 150 प्रतिनिधि भाग लिए थे। सभा में भारत के आदिवासियों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिस्थिति पर विस्तार से चर्चा हुई। चर्चा का मुख्य विषय I.C.T.I.P. का औपचारिक गठन था, ताकि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मंचों में

भारत के आदिवासियों का पक्ष ठोस रूप से पेश किया जा सके।

यह अखिल भारतीय गोष्ठी भारत के आदिवासियों के इतिहास में एक बहुत ही महत्वपूर्ण कदम है। पहली बार भारत के सभी आदिवासियों को एक मंच पर लाने का प्रयास हुआ है।

जन-जातीय आबादी

1951 में भारतीय संघ के राज्यों तथा संघ सुरक्षित राज्यों के 212 जनजातियों को अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया था। लेकिन 1961 की जनगणना में कुछ जातियों को जन जाति में शामिल किए जाने के कारण अनुसूचित जन जातियों की संख्या बढ़ गई है। 1961 की जनगणना के अनुसार 450 समुदाय भारतीय जन-जाति के अन्तर्गत आते हैं। 1971 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जन-जातियों की आबादी 3.80 करोड़ थी, जो सम्पूर्ण भारतीय आबादी का लगभग 7% थी। 1981 की जनगणना के अनुसार देश के जन-जातियों की आबादी 5.38 करोड़ है।

राजी अथवा वनरावत जन-जाति

उत्तराखण्ड के सीमांत इलाकों में आज भी ऐसी जातियाँ हैं जो देश के आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तनों से अछूती हैं। न केवल उत्तराखण्ड में बल्कि भारत में सम्भवतः यही एक ऐसी जाति होगी जिसके अधिकांश परिवार आज भी गुफाओं और कंदराओं में निवास करते हैं। इन्हें 'राजी' कहा जाता है। स्थानीय कुमाँऊनी बोली में ये वनरावत के नाम से पुकारे जाते हैं।

दुर्गम पर्वत शृंखलाओं, टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों घने वृक्ष समूहों व भीठे पानी के स्रोतों, नालों तक ही ये प्रकृति-पुत्र अपने तौर-तरीकों, रहन-सहन को संजोये हुए थे। सिर छिपाने की गुफाएँ थी, भूख मिटाने की वृक्षों लताओं व पत्थरों के अस्त्र जिनसे जीव-जंतुओं का आखेट किया जा सके। कभी जब शिकार न मिले तो क्षुधा पूर्ति के लिए उपलब्ध थे असंख्य कंदमूल। धीरे-धीरे दूरदराज भ्रमण करने की घुमक्कड़ी खानाबदोश प्रवृत्ति ने इन्हें स्थानीय तथाकथित सभ्य निवासियों के सम्पर्क में ला दिया।

अब राजी जन-जाति अथवा वनरावत को अनुसूचित जन-जाति घोषित कर दिया है। 1971 की जनगणना के अनुसार इनके कुल परिवारों की संख्या 78 व जन संख्या 297 थी।

झारखण्ड आन्दोलन में बुद्धिजीवियों और युवा-शक्ति की भूमिका

— अमर सिंह मुण्डा

हर व्यापक और दीर्घकालीन आन्दोलन में केन्द्रीय भूमिका मजदूरों और किसानों की होती है, जो उत्पादक वर्ग होते हैं, और समाज के मुख्य आधार होते हैं। लेकिन क्रांतिकारी बुद्धिजीवी आन्दोलन को दिशा प्रदान करते हैं और क्रांतिकारी युवा आन्दोलन को जुझारू बनाते हैं। हम यहाँ झारखण्ड आन्दोलन में बुद्धिजीवियों और छात्र-युवाओं की भूमिका का एक जायजा लेना चाहेंगे।

19वीं सदी के अलग-अलग आदिवासी विद्रोहों की अन्तर्वस्तु को झारखण्ड के राष्ट्रीय आन्दोलन के स्तर पर ले जाने में प्रथम भूमिका अदा की उन्नति समाज ने, जिसकी स्थापना 1915 में हुई थी। यह संस्था मुख्यतः झारखण्ड के नवोदित नौजवान बुद्धिजीवियों ने बनाई थी जिसमें शामिल मुख्य लोगों में जोएल लकड़ा, इग्नेस बेक, जुलियस तिग्गा आदि थे। इन बुद्धिजीवियों ने आगे चलकर लम्बे समय तक झारखण्ड आन्दोलन का दिशा निर्देश किया। इन्होंने अन्य लोगों के साथ मिलकर आदिवासी महासभा का गठन किया था। जयपाल सिंह के गतिशील व्यक्तित्व को पहचानते हुए उन्हें लाकर महासभा का नेता बनाने की समझ भी इन्हीं की उपज थी। यह सोचकर ताज्जुब होता है कि जोएल लकड़ा 1915 से लेकर 1970 तक वगैर किसी प्रसिद्धि की ख्वाहिश के लगातार अपनी भूमिका अदा करते रहे।

इसके बाद आगे चलकर हिरण्मय राय, विश्वेश्वर प्रसाद केसरी, निर्मल मिश्र, वीर भारत तलवार, ए० के० राय आदि ने आन्दोलन को

बौद्धिक आधार प्रदान किया। 1980 के बाद झारखण्ड आन्दोलन में शामिल बुद्धिजीवियों में डॉ० रामदयाल मुण्डा का स्थान प्रमुख है।

लेकिन शोचनीय बात यह रही कि झारखण्ड आन्दोलन के व्यापक आधार और कठिन लक्ष्य को देखते हुए आन्दोलन में शामिल बुद्धिजीवियों की संख्या बहुत ही कम है, इतना कम कि झारखण्ड आन्दोलन इतना पुराना होने और इसके साथ गुरु-गम्भीर समस्याएँ जुड़ी होने के बावजूद न आन्दोलन के लिए कहने लायक पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं, न साहित्य की रचना हुई, और न शोध-कार्य हुए।

आजादी के बाद पूँजीवादी विकास, झारखण्ड आन्दोलन और आरक्षण की मदद से, झारखण्ड के मध्यम वर्ग के दसियों-हजारों लोग उच्च शिक्षा पाये, और इंजीनियर, वकील, अफसर, शिक्षक आदि बने। वे झारखण्ड आन्दोलन से अपने लिये ताकत और इज्जत हासिल करते रहे लेकिन उन्होंने आन्दोलन को कुछ नहीं दिया जो कुछ दिया उसे नगण्य ही कहा जायगा। इसलिए लाजिमी था कि आन्दोलन बौद्धिक रूप से गरीब बना रहा और परिणाम स्वरूप कमजोर बना रहा।

1980-90 के दशक के इतिहास ने कर-वट बदली। रांची विश्वविद्यालय में भाषा-विभाग खुलने, झारखण्ड आन्दोलन में समाजवादी शक्तियों के प्रवेश का विस्तार होने, जेवियर इंस्टीच्यूट जैसे संस्थानों की भूमिका आदि के फलस्वरूप चिन्तन प्रक्रिया में एक नई गति और व्यापकता आयी। साथ ही आजसू के नेतृत्व में झारखण्ड आन्दोलन

में छात्रों का व्यापक प्रवेश हुआ। आज इन परिस्थितियों ने झारखण्ड आन्दोलन में बुद्धिजीवियों के व्यापक प्रवेश की एक जमीन बनाई है। इससे आशा की जा सकती है कि अब झारखण्ड आन्दोलन बौद्धिक रूप से गरीब नहीं रहेगा।

झारखण्ड आन्दोलन में छात्रों की भूमिका—

झारखण्ड आन्दोलन में छात्र आन्दोलन के तीन दौर स्पष्टतः देखने को मिलते हैं जो करीब दस-दस वर्ष के अंतराल में आए। पहला—पूरे उत्तर भारत में चल रहे छात्र आन्दोलन के वक्त 1966-67 में झारखण्डी छात्र भी राँची में आन्दोलन में उतरे थे। इनमें से कुछ ने अपने को विरसा सेवा दल के साथ जोड़ा था लेकिन शीघ्र ही यह कड़ी टूट गई। 1977-78 के वर्षों में शालखन मूर्मू और करमा उराँव के नेतृत्व में झारखण्डी छात्रों का एक उभार आया लेकिन यह भी अधिक दिन तक टिका नहीं।

लेकिन 1986-87 में आजसू (ऑल झारखण्ड स्टूडेंट्स यूनियन) का जन्म छात्रों की एक नई फसल को प्रस्तुत करता है। सूर्य सिंह बेसरा के नेतृत्व में छात्रों के विशाल समुदाय ने सीधे झारखण्ड आन्दोलन में प्रवेश किया जो आज जुझारू नेतृत्व का मेरुदण्ड बना हुआ है।

आजसू (ऑल झारखण्ड स्टूडेंट्स यूनियन)

सिंहभूम जिले के डुमरिया प्रखण्ड के निवासी सूर्य सिंह बेसरा स्कूली छात्र रहने के समय से ही झारखण्ड आन्दोलन में किसी न किसी प्रकार शामिल रहे। उन्होंने 1978 में होरो के नेतृत्व में झारखण्ड प्रान्त के लिए सीधी कार्रवाई के आन्दोलन में भाग लिया। 1978-79 में करमा, शालखन के नेतृत्व में संचालित छात्र आन्दोलन के साथ जुड़े रहे, 1980 में झारखण्ड मुक्ति मोर्चा में शामिल हुए; 1983-84 में

संथाली भाषा के लिये (पंडित रघुनाथ मूर्मू द्वारा प्रतिपादित) ओल चिकी लिपी के प्रचार के लिए काम किया; और 1985 में झारखण्ड आन्दोलन को जुझारू रूप प्रदान करने के लिए छात्र संगठन बनाने की कल्पना को जन्म दिया। श्री बेसरा ने 1986 में राँची विश्वविद्यालय से संथाली में एम० ए० पास किया और इस समय वे शोध छात्र हैं।

श्री बेसरा ने असम के ऑल असम स्टूडेंट्स यूनियन (आसू) से प्रेरणा लेकर आजसू का गठन किया। इस सिलसिले में वे असम के छात्र नेता मुख्यमंत्री से भेंट करने गौहाटी भी गए। ध्यान रहे कि इस प्रेरणा का स्रोत असम आन्दोलन की अन्तर्वस्तु नहीं थी बल्कि छात्रों की राजनैतिक नेतृत्व देने की क्षमता थी।

22 जून, 1986 को झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के सोनारी, जमशेदपुर कार्यालय में सूर्य सिंह बेसरा के नेतृत्व में बाकायदा आजसू का गठन हुआ। आजसू का गठन मोर्चा से संबद्ध छात्र संगठन के रूप में किया गया था। सूर्य सिंह बेसरा उस समय मोर्चा की केन्द्रीय समिति के सदस्य थे।

स्व० निर्मल महतो की मदद से श्री बेसरा ने 19-20 अक्टूबर 1986 को जमशेदपुर में एक विशाल छात्र बुद्धिजीवी सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में सभी राजनीतिक दलों से सम्बद्ध झारखण्डी छात्रों को एक समान सांगठनिक मंच की सहूलियत प्रदान करने के लिए बेसरा ने आजसू को एवं खुद को झारखण्ड मुक्ति मोर्चा से अलग कर लेने की घोषणा की। इसके बाद मोर्चा के अलावा झारखण्ड पार्टी, सी० पी० आई० (एम० एल०) और झारखण्ड विचार मंच से संबद्ध छात्र आजसू में शामिल हो गए।

आजसू ने अपने जन्म के साथ-साथ दो महत्वपूर्ण प्रस्थापनाओं को प्रस्तुत किया— एक—झारखण्ड प्रान्त अलग होने तक चुनाव

बहिष्कार करना और दूसरा - झारखण्ड प्रांत के लिए कालबद्ध जुझारू कार्यक्रम बना कर उस पर चलना ।

27-29 दिसम्बर को झाड़ग्राम (मेदिनी-पुर जिला) में एक सम्मेलन में आजसू की केन्द्रीय समिति का गठन हुआ और संविधान व कार्यक्रम बनाए गए । श्री बेसरा आजसू के महामंत्री बनाए गए और श्री प्रभाकर तिकी अध्यक्ष ।

5 फरवरी 1987 को श्री बेसरा के नेतृत्व में आजसू का प्रतिनिधि मण्डल नई दिल्ली गया और प्रधानमंत्री के घर पर उनके राजनीतिक सलाहकार माखन लाल फोतेदार के हाथों में झारखण्ड प्रान्त को अलग करने के लिए एक स्मार-पत्र दिया ।

21-22 जून को आजसू ने अपनी प्रथम जन्म वाषिकी के अवसर पर एक रैली आयोजित की और भारत में राष्ट्रीयताओं के प्रश्न पर एक गोष्ठी आयोजित की ।

आजसू ने 25 सितम्बर '87 को झारखण्ड प्रांत की माँग पर झारखण्ड बन्द का आह्वान देकर तथा उसे सफल बनाकर अपने महत्व, सार्थकता और क्षमता का परिचय दिया । आजसू के इस सफल कार्यक्रम ने झारखण्ड आन्दोलन में एक नए युग का सूत्रपात किया— सीधे संघर्ष का युग ।

आजसू करीब 50 झारखण्डी संगठनों की झारखण्ड समन्वय समिति की एक प्रधान शक्ति है। आज आजसू तेजी से जिला, प्रखण्ड और पंचायत स्तरों पर प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाकर अपने कार्यकर्ताओं को वैचारिक रूप से सशक्त बना रहा है ।

पूँजीवादी शोषण से उपजे झारखण्ड आन्दोलन में लाखों गरीब झारखण्डी जनता एक शोषण-मुक्त समाज व्यवस्था कायम करने में शामिल है । इस क्रांतिकारी संघर्ष में 'आजसू' बौद्धिक तथा सांगठनिक स्तर पर क्या भूमिका अदा कर पायेगा, इसकी गवाही जाने वाला झारखण्ड आन्दोलन का इतिहास ही देगा ।

अस्तित्व संघर्ष और उत्पीड़ित जातियाँ

आज सारी दुनिया में अस्तित्व के संघर्ष में हारी हुई जातियाँ अपनी अस्मिता (आइडेंटिटी) को खोज रही है । एशिया, अफ्रिका और लैटिन अमेरिका की पिछड़ी, उत्पीड़ित जातियों के बुद्धिजीवी यह सवाल उठा रहे हैं कि क्या हम वही हैं जो शासक वर्ग आज तक हमें कहते आये हैं ? हमारा इतिहास क्या है ? हमारी नियति क्या है ? एमे सिजायर दक्षिणी अमेरिका के छोटे से द्वीपीय शहर मातिनिक के कवि हैं । उनकी लम्बी कविता 'रिटर्न टू माई नेटिव लैण्ड' सिर्फ अमेरिका में ही नहीं, पूरे विश्व में चर्चा और सराहना का विषय बनी । श्री सिजायर नीग्रो संसार के सबसे प्रमुख बौद्धिकों में एक हैं । साहित्य और चिन्तन के क्षेत्र में उनकी सबसे मूल्यवान देन 'नीग्रो दृष्टि' की उनकी धारणा मानी गई है । श्री सिजायर ने दक्षिणी अमेरिका के बुद्धिजीवियों को, जो फ्रांसिसी और यूरोपीय प्रभावों में कैद थे, अपनी सांस्कृतिक पहचान प्रदान की और कहा सबसे पहले हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि हम नीग्रो थे और हैं । हम आधे अमेरिकी या आधे फ्रांसिसी नहीं बल्कि हम नीग्रो हैं और हम वैसे दीन-हीन नहीं हैं जैसा कि ये गोरे शासक वर्ग हमें बताते हैं बल्कि हमारा एक उज्ज्वल और गौरवमय इतिहास रहा है जिसमें इस संसार को देने के लिए बहुत-सी मूल्यवान धरोहर है । विश्व की सभ्यता और संस्कृति में हमारा भी योगदान है । हम संसार को तथा अपने इतिहास को फ्रांसिसी या यूरोपीय दृष्टि से नहीं नीग्रो दृष्टि से देखते हैं जो हमारी अपनी दृष्टि है ।

साभार—'आदिवासी संस्कृति : आत्म पहचान, मूल्य और नियति के कुछ मौलिक प्रश्न'
(डॉ० वीर भारत तलवार) से उद्धृत ।

चास की तीन औरते

— निर्मल सेनगुप्ता

मनी

बाईपास रोड से बोकारो की तरफ जाते हुए आपने कभी लम्बाकुली के मोड़ पर बैठी हुई बूढ़ी मनी बाउरिन को देखा होगा। एक जमाने में वे काफी सुन्दर दिखाई देती थीं पर आजकल बुढ़ापे में चमड़ा झूल गया है, आँखों की चमक खत्म हो गई और सारे बदन पर बुढ़ापे की छाप दिखने लगी है। फिर भी वे इतनी खराब हालत में नहीं रहतीं, लेकिन इधर उनपर सारा बोझ दुगुना हो गया है।

रामेश्वर सिंह मनी के कौन होते हैं, यह कहना जरा मुश्किल है। वे उनके पति नहीं हैं क्योंकि उन दोनों की कभी शादी नहीं हुई थी। शादी होती भी कैसे? ऊँची और नीची जाति के बीच शादी तो चलती नहीं। कुछ लोग इस सम्बन्ध को 'रखैल' कहते हैं। लेकिन जिस इज्जत के साथ यह सम्बन्ध बना रहा है क्या हम उसे इस भद्दे ढंग से पुकार सकते हैं? आप ही जरा देखें कि यह सम्बन्ध किस तरह का है।

आज से तीस साल पहले अगर आप रामेश्वर सिंह से मिले होते तो देखते कि वे एक अच्छे घर के खाते-पीते तगड़े जवान थे, दिनभर खेती गृहस्थी के काम में लगे रहते थे। पटना जिले में उनकी थोड़ी बहुत जमीन थी। घर में एक अच्छी बहू थी और था एक तन्हा बच्चा। जिन्दगी ऐसे ही बीत जाती लेकिन.....

आकाश के कोने में काली घटा छाई हुई थी। एक आँधी रामेश्वर का यह सुखी जीवन मिटा देने के इरादे से धीरे-धीरे जाग रही थी। रामेश्वर की बहू काफी बीमार पड़ी। दवा-दारू से कुछ नहीं हुआ। एक रोज उसने अपनी आँखें सदा के लिए बन्द कर लीं।

लेकिन दुर्भाग्य यहीं खत्म नहीं हुआ। माँ को नहीं देखकर बच्चा भी रोते हुए एक दिन बीमार पड़ गया और दो महीनों के अन्दर वह भी माँ से मिलने चला गया। संसार में रामेश्वर का अपना कोई नहीं रह गया।

उदास रामेश्वर गांव छोड़कर भटकते रहे। कई साल बीत गए। न सोने और उठने का कोई नियम, न खाने और पीने की सुध। लापरवाही की जिन्दगी से वे दमा के शिकार हो गए। गांव लौट कर खेती-गृहस्थी करना इन्हें अपने बस की बात नहीं लगी। बोकारो के पास जहाँ वे रहते थे, वहीं कुछ धन्धा कर लेते थे। कभी कोई व्यापार, कभी ठेकेदार के यहाँ काम। गांव के रिश्तेदारों ने उसे फिर शादी करने को कहा तो दमे की बात कहकर उन्होंने टाल दिया।

लेकिन, अकेलेपन का दर्द तो दिल में था ही। अतः उन्होंने चास की मनी बाउरिन को रखैल रख लिया— सोचा, शादी जैसा कोई दृढ़ बन्धन तो है नहीं, अगर वह बीमार आदमी से छूटकारा पाना चाहेगी तो कभी भी छूट सकती है। यह आज से पच्चीस साल पहले की बात है।

लेकिन मनी बाउरिन ने उनकी सारी जिन्दगी को बदल दिया। मनी ने इस उदास आदमी के घर को बसाया। उनके पुराने दर्द को भुलाने में सहायता की—यहाँ तक कि मनी की सेवा से रामेश्वर की बिमारी भी खत्म हो गई। धीरे-धीरे रामेश्वर मनी से प्यार करने लगे। रखैल के रूप में जिसे रखा था, उसे जीवन संगिनी जैसी इज्जत देने लगे। रामेश्वर अब पूरी दिलचस्पी के साथ ठिकेदारी करने लगे, कभी रांची में कभी दुर्गापुर में। वे परदेश में ही बस गए—कभी कभार गांव लौटते थे। उनकी ऊँची जाति वाले रिश्तेदार

नीची जाति की किसी औरत को बिस्तर पर सुलाना तो खराब नहीं समझते लेकिन उस औरत को घर में बसा लेना, उसे घर की बहू जैसी इज्जत देना जरूर पाप समझते हैं। उन्होंने परमेश्वर को इस दोष का दोषी ठहराया और अब बिना गोबर खाए, समाज के पण्डे पुरोहितों को दान-दक्षिणा दिए बिना वे अपने समाज और जात में भला कैसे लौट सकते थे? रामेश्वर ने बाउरी समाज में ही रहने का फैसला किया। थोड़ी सी जमीन खरीदी-सोचा, बुढ़ापा यहीं काटेंगे।

ऊँची जातियों का खोखलापन और ढोंग बाउरी समाज में नहीं हैं। एक सच्चे सम्बन्ध को वे इज्जत देना जानते हैं—जातपात, कानून और अर्थहीन मंत्रों के लिए वे लालाइत नहीं होते। रामेश्वर मनी की इज्जत करते थे, बाउरी समाज भी रामेश्वर की और उनके प्रेम के इस सम्बन्ध की इज्जत करता था। करीब-करीब बीस साल तक मनी बहुत ही सुखी रही रामेश्वर जो कुछ कमाते थे, सारा पैसा घर लाकर मनी के हाथों में रख देते थे। रामेश्वर की अनुमति से मनी ने अपने बहुत ही गरीब भाईयों की भी मदद की। जब बोकारो में कारखाना बनाने का काम शुरू हुआ तो रामेश्वर ठीकेदारी करने के लिये बोकारो आ गए और मनी की भाई-बिरादरी के साथ मिलजुल कर रहने लगे। अगर विवाह के मंत्रों और कानून में इतनी शक्ति है तो क्या उन्हें नहीं चाहिए कि वे सभी विवाह सम्बन्धों को मनी-रामेश्वर के जैसा ही मधुर और सार्थक बना दें?

मनी की कहानी अभी खत्म नहीं हुई है। इधर बुढ़ापे में रामेश्वर को दमा फिर लौट आया है। आमदनी बन्द है। रामेश्वर काम करने में असमर्थ हैं। कुछ सालों से अपना एक-एक जेवर (जो रामेश्वर ने उन्हें बनाकर दिए थे) बेचकर गृहस्थी चला रही हैं। मनी का रात-दिन एक ही काम हो गया है—रामेश्वर की देखभाल करना।

ऊँची जातवाले कहते हैं—बाउरी जाति ही खराब है। सदियों से उनमें वेश्यावृत्ति चल रही

है। ऐसा कहनेवालों की आँखों पर ही गन्दगी का चश्मा लगा हुआ है। मनी जैसी औरतें, उनके विचार में, रखेल हैं। और धार्मिक मंत्रोच्चार पूरा करके शादी करने के बाद जब कुछ लोग बहू को छोड़ लम्पटता करते हैं तो वे उनकी नजर में पवित्र हैं। रामेश्वर के लिए वे प्रायश्चित्त करने का आदेश देते हैं लेकिन उन सचमुच के लम्पटों की निन्दा तक नहीं करते।

बाउरी समाज के विचार इन पाखंडी हिन्दू ब्राह्मणों-पुरोहितों से ज्यादा ऊँचे हैं। बाउरी लोग सत्य को महत्व देते हैं। वे मनी की इज्जत करेंगे। ऊँची जात वाले रामेश्वर की इज्जत नहीं कर पाए। बाउरी समाज की नजरों में मंत्रोच्चार की जरूरत नहीं है। जरूरत होती है सदाचार की। लेकिन, ऊँची जातिवालों में रामेश्वर जैसे दृढ़ और सदाचारी आदमी बहुत कम हैं। बाउरी औरतें अपनी जाति की रखेल कही जानेवाली स्त्रियाँ को भी घर की बहू जैसी इज्जत देती हैं लेकिन ऊँची जाति वाले मंद उसे उपभोग की सामग्री समझते हैं। इसलिए प्रगतिशील कौन हुआ—बाउरी या तथाकथित ऊँची जातवाले?

सरसती

वेश्या और रखेल में फर्क है। रखेल औरत एक ही पुरुष के साथ सम्बन्ध रखती है और वेश्या बहुतां के साथ। पहले बाउरी समाज में वेश्या नहीं होती थी। इधर जब लड़ाई के समय सेना आई, चास शहर में बदलने लगा और बोकारो कारखाना तैयार हुआ तब से वेश्याएँ भी बनने लगीं। बोकारो में दूर-दूर से हजारों मजदूर अपनी मेहनत बेचने के लिए आए। सरकार और पूँजीपतियों ने उस मेहनत का शोषण करने के लिये कारखाना बनाया। लेकिन उन मजदूरों के जीवन की और जरूरतों को पूरा नहीं किया गया। बीबी-बच्चे साथ में रखने के लिये घर नहीं दिया, खेल-कूद और मनोरंजन के साधन नहीं दिए। अतः उनमें से बहुत अपनी थकावट और अकेलापन मिटाने के

लिए वेश्याओं के मुहल्ले में जाते हैं। आज चास के बाउरी और मुची मुहल्लों में ऐसी करीबन तीन सौ पचास औरतें हैं जो इस पेशे में हैं। उसमें ज्यादातर औरतें दूसरी जातियों की हैं, लेकिन वे सब रहती हैं बाउरी मुहल्ले में ही। ऊँची जातवाले सिर्फ उनका उपभोग करते हैं, उन्हें अपने मुहल्ले में रहने नहीं देते।

ऐसी ही एक लड़की है सरसती। यह उसका असली नाम नहीं है। गांव कौन-सा है, यह भी नहीं बताएंगे, लेकिन वहाँ चास के पास करमा बन-सियाली की तरफ है। बोकारो कारखाने के जन्म के आठ-दस साल पहले सरसती का जन्म हुआ था। माँ-बाप की चार बेटियों में एक है सरसती। माँ-बाप रोज मजदूरी करते, तब भी उस परिवार को कभी पेट-भर खाना नहीं मिलता।

सरसती जब बच्ची थी तब दिन भर इधर उधर भटकती फिरती। माँ-बाप बाहर काम करने जाते थे — बच्चियों को देखेगा कौन? सरसती सड़क पर आते-जाते बस-ट्रकों को खूब देखती। जब सयानी हुई तो एक-माघ बार ट्रक पर चढ़ भी ली। इधर बोकारो कारखाना बन रहा था, इसलिए बस और ट्रकों की संख्या भी बहुत बढ़ गई थी।

पुराने चास-बोकारो में तेजी से परिवर्तन होता जा रहा था। विशाल कारखाना बन रहा था, समतल मैदानों और खेतों पर ऊँचे-ऊँचे मकान बनते जा रहे थे। एक परिवर्तन सरसती के बदन में भी आ रहा था। नंगे बदन, बिखरे हुए बालों के साथ खेलने वाली बच्ची की जगह उसमें धीरे-धीरे एक नारी जन्म ले रही थी। फटे कपड़े उसके उभरे हुए शरीर को पूरी तरह अब ढंक नहीं पाते। बसों और ट्रकों में जानेवाले यात्री भी अब लापरवाही से उसे अनदेखे आगे नहीं बढ़ जाते। आँखें मुड़-मुड़ कर देखने लगतीं।

किशोरी सरसती को अब भी इस परिवर्तन का मतलब महसूस नहीं हुआ था। वह वैसे ही सड़क के किनारे खड़ी आती-जाती गाड़ियों को देखती रहती। इधर आजकल कई अच्छे-अच्छे

ड्राइवर भी आये हैं। उनमें से कोई ड्राइवर अब सरसती को मुफ्त में ही ट्रक पर घुमा लाता है। उस बच्ची को क्या मालूम— कि जमाना नहीं बदला है वही बदल गई है।

ऐसे ही एक दिन सरसती बहुत से रेजा-कुलियों के साथ एक ट्रक पर सवार हो गई। ट्रक जा कर दामोदर नदी के पास खड़ा हो गया। रेजा कुली ट्रक पर बालू भरने लगे। सरसती बालू पर खेलती रही, ड्राइवर से दो-चार बातें भी हुईं। शाम हुई। मजदूर घर लौटने लगे। ड्राइवर ने सब मजदूरों को मजदूरी दी। आश्चर्य की बात, ड्राइवर ने सरसती के हाथ में भी एक रुपया रख दिया। बोला— यह तुम्हारी मजदूरी है। कल से रोज ट्रक पर आ जाना।

सरसती उस रोज उछलती हुई घर लौटी। तब से वह रोज उस ट्रकवाले के ट्रक पर मजदूरी करने के लिए जाने लगी। धीरे-धीरे उसकी आँखें खुल गईं। ट्रकवाला सरसती से काम नहीं कराता था। नदी किनारे ट्रक खड़ा करने के बाद वह सरसती को लेकर आराम करने चला जाता था। फिर शाम को घर लौटने के पहले वह उसे पूरी मजदूरी दे देता था। सरसती ने दुनिया को पहचानना शुरू किया। एक ओर भूख और कड़ी मेहनत से छुटकारा था और नयी जवानी की गर्मी का भी आनन्द था। दूसरी ओर इज्जत खोने की शर्म थी। लेकिन गरीबी में इज्जत को चिन्ता कौन करता है? जब सब खो गया तो सरसती की शर्म भी चली गई।

अच्छा खाने-पीने और कपड़ों से सरसती का मोल-भाव दी बदल गया। देखने में मामूली औरतों की तुलना में वह बहुत ही सुन्दर थी। उसका नाम फैल गया। ट्रक ड्राइवरों में होड़ लग गई कि कौन उसे हासिल करेगा। अपने पुराने मालिक को छोड़कर सरसती नये-नये लोगों के साथ घूमने लगी। कभी-कभी दो-तीन दिन तक घर ही नहीं लौटती। तब उसकी उम्र सत्तरह साल भी पूरी नहीं हुई थी। अपने गाँव और गरीब माँ-बाप

से उसका सम्बन्ध टूट रहा था। एक दिन किसी पंजाबी ड्राइवर के साथ वह घर छोड़कर चली गई। सरदार अकेला रहता था। उसने सरसती को अपने साथ रख लिया। इस तरह डेढ़ साल बीत गया। तब एक रोज सरदार पंजाब लौट गया।

उस दिन सरसती पहुँची चास के वेश्या मुहल्ले में। सरदार के छोड़ देने के बाद वह कहाँ रहे, क्या खाए? मेहनत करने की आदत ही नहीं थी। फिर उसे अच्छा खाने-पीने, तेल साबुन और अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने की आदत बन चुकी थी। मेहनत से इतना पैसा जुटाया नहीं जा सकता था। सरसती के सामने अब एक ही रास्ता खुला था। वह पूरी तरह से वेश्या बन गई। लेकिन उसमें खूबसूरती बाकी थी। पास में एक बाउरिन ने उसे अपने घर में कमरा दे दिया और उसके लिए गाहक भी जुटाने लगी। कभी होटलों में, कभी बोकारो में किसी के घर में वह रात बिताने लगी। उसकी आधी कमाई उसकी मकान मालकिन बुढ़िया ले लेती। तीन साल के अन्दर बुढ़िया ने सिर्फ सरसती की दलाली की कमाई से अपना पक्का मकान बना लिया।

आखिर सरसती थक गई। उम्र भी अब सोचने समझने लायक हुई है। उसे कभी-कभी भविष्य की चिन्ता होती थी। वह कभी-कभी अपनी जिन्दगी पर अफसोस भी करती थी। वह अपने गाँव के घर गई — माँ-बाप को कुछ रुपया-पैसा दी।

आमदनी को लेकर एक दिन दलाल बुढ़िया के साथ उसकी खटपट हो गई और वह बुढ़िया के साथ झगड़ा करके एक पंजाबी मैकानिक के साथ चली गई। वह उसकी रखैल बन गई।

इन दिनों उसकी हमसे एक ही बार भेंट हुई थी। स्कूटर में बैठी हुई, शिपन की साड़ी पहने और आँखों पर धूप का काला चश्मा लगाए हुई सरसती को पहचानना मुश्किल था। सुना है, मैकानिक पंजाब लौट गया है। लेकिन वह सरसती

को भी अपने साथ ले गया है। क्या पता, उसकी जिन्दगी भी मनी की तरह सुखी होगी या एक दिन सरदारजी उसे घर से निकाल देंगे। और, अगर निकाल दिया तो जवानी की सारी दौलत खोकर सरसती फिर कहाँ जाएगी? कैसे रहेगी।

बिजली

दलाल बुढ़िया बाउरिन थी। उसके दो बेटे और दो बहुएँ थीं। बहुएँ सरसती के उम्र की ही थीं। बुढ़िया सरसती के लिए गाहक जुटाती थी, लेकिन अपनी दोनों बहुओं को वह बहुत स्यावधानी के साथ इन सब धन्धों से दूर रखती थी।

बाहरी लोग समझते हैं कि बाउरी जाति में वेश्यावृत्ति आम बात है। लेकिन यह बात सत्य से बहुत दूर है। बाकी की बात तो छोड़ दीजिये, इस दलाल बुढ़िया का आचरण भी बाउरी लोगों के विचार का समर्थन नहीं करता है। सन् '61 में बाउरी नौजवानों ने चास मुहल्ले में वेश्यावृत्ति को खत्म कर दिया था। लेकिन जब बोकारो कारखाना खुला तो यह समस्या फिर उठ खड़ी हुई और बोकारो कारखाने के बढ़ने और शहर बसने के साथ-साथ यह समस्या इतनी बढ़ गई कि बाउरी नौजवान उसे रोक नहीं पाते। लेकिन फिर भी, एक लम्बाकुली को छोड़ कर आज भी बाउरी नौजवान किसी बाउरी मुहल्ले में वेश्यावृत्ति करने नहीं देते।

आम बाउरी औरत का स्वभाव कैसा होता है? यह जानना चाहते हैं तो आइए, आपको बिजली बाउरिन की कहानी सुनाता हूँ। लेकिन इसमें कहानी का मजा नहीं है, न मनी के जीवन का रोमांस है और न सरसती के जीवन का नाटक। बिजली बाउरिन की कथा रोजमर्रे की जिन्दगी के संघर्षों की रूखी-सूखी बातें ही हैं।

बिजली की उम्र अभी तीस साल की नहीं हुई है। लेकिन, इतनी ही उम्र में वह विधवा हो गई। उसके दो छोटे बच्चे हैं। बिजली जिन्दगी के अकेलेपन को दूर करने के लिए दूसरी शादी

कर सकती है। लेकिन उसके बच्चों की देख-भाल तब कैसे होगी ?

उसने दूसरी शादी नहीं की। उसने अपना सारा भविष्य इन बच्चों का मुँह देखकर बनाया है। फिर भी बहुत तकलीफ है। सुबह पाँच बजते ही बिजली काम पर निकल जाती है। तीन मील दूर बोकारो शहर में। वह शहर के तीन क्वार्टरों में काम करती है। भूखे पेट दोपहर बारह से दो बजे तक शहर के मैदान में बैठ कर आराम करती और शाम को काम खत्म करके जब वह घर लौटती है तब अन्धेरा हो जाता है। उसके बच्चे क्या खाएँ ? उनकी देख भाल कौन करे ? एक पड़ोसिन देखभाल करती है, लेकिन वह तो कुछ ही समय के लिए। छोटा बच्चा अभी भी माँ का दूध पीता है। लेकिन माँ तो सिर्फ शाम के बाद ही मिलती है उसे। फिर भूखी-प्यासी माँ भी छाती में दूध लाए कहाँ से ?

बिजली दिन में काम करती है, रात में रोती है। क्या उसके जीवन का यह संघर्ष कभी पूरा नहीं होगा ? बिजली ही सच्ची बाउरी औरत है। सुन्दरता उसमें भी है। लालच भी उसे बहुतों ने दिया है। लेकिन वह झुकी नहीं। एक घर में बाबू ने उसे आसानी से मिल जानेवाली समझकर इशारा किया था। पैसे और रोटी की चिन्ता के बावजूद बिजली ने उसी महीने उस घर में काम छोड़ दिया।

बाउरी समाज में मनी मिलेगी दस, सरसती सौ, लेकिन बिजली है हजारों की संख्या में। पेट पालना उनका संघर्ष है। बच्चों को पालना उनका संघर्ष है। इज्जत बचाना भी उनका संघर्ष है। वे संघर्ष कर रही है।

अगर बिजली कभी हार गई तो इस समाज को अपनी शर्म छुपाने के लिए कहाँ जगह होगी ?

— शालपत्र से उद्धृत

मुण्डा लोक-कथा

लालची स्त्री

एक स्त्री जंगल में लकड़ियाँ चुनने गई। वहाँ देखती है कि एक बड़ा केकड़ा सोने का एक बड़ा गोला अपने लम्बे सूँड़ों से ढकेलता जा रहा है। स्त्री केकड़े के पीछे-पीछे चलने लगी। उसे अपने पीछे आते देख कर केकड़े ने गोले का एक टुकड़ा रास्ते में डाल दिया और आगे बढ़ा। स्त्री ने फिर पीछा किया। केकड़े ने एक टुकड़ा और डाला। किन्तु स्त्री ने पीछा नहीं छोड़ा। इसी प्रकार केकड़ा छोटे-छोटे टुकड़े तोड़-तोड़ कर रास्ते भर डालता गया और स्त्री उन्हें छोड़कर बड़े गोले के लिए आगे बढ़ती गई।

सामने एक नदी आई। केकड़े को नदी के निकट जाते देख कर स्त्री तेजी से लपकी लेकिन तब तक केकड़ा गोले को ढकेलते हुए गहरे पानी में समा गया था। स्त्री खड़ी-खड़ी हाथ मलने लगी।

अचानक उसे पीछे छुटे हुए ढेले याद आये। बिना एक क्षण भी देर किए वह पीछे की ओर भागी मगर रास्ते में कोई आदमी नहीं था। वह और तेजी से दौड़ी पर एक भी ढेला वहाँ नहीं था।

स्त्री अपनी गलती पर सिर पीट कर पछताने लगी।

साभार— मुण्डा लोक-कथाएँ (जगदीश त्रिगुणायत)

झारखण्डी महिला सम्मेलन

— अश्रिता पुरती

झारखण्ड के आन्दोलन के इतिहास में पहली बार झारखण्डी महिलाओं ने नारी-मुक्ति की समस्याओं पर एक सम्मेलन का आयोजन 16-17 मई '87 को राँची में किया। राँची कॉलेज परिसर में हुए इस सम्मेलन में दूर-दराज से आए 300 से भी अधिक महिलाओं ने भाग लिया। तैयारी समिति की संयोजिका रोज केरकेट्टा ने इसमें अग्रणी भूमिका निभाई। उक्त सम्मेलन ने परकेलता मिज तथा मुनी होरो की अध्यक्षता में 'प्राचीन आदिवासी समाज में स्त्रियाँ' तथा 'वर्तमान झारखण्डी महिलाओं की स्थिति एवं उनका भविष्य' जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श किया।

सम्मेलन में सर्व-सम्मति से पिता द्वारा अर्जित सम्पत्ति में पुत्री को हक मिलना, घरेलू उद्योग-धन्धों, पंच, सहयोग समिति आदि को मजबूत बनाना, जंगल को सामुदायिक सम्पत्ति समझना, सड़ो-गली मान्यताओं को बदलना, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्त्री-मुक्ति आन्दोलन के साथ झारखण्डी महिलाओं को जोड़ना आदि समस्याओं पर रचनात्मक कदम उठाने का निर्णय लिया गया।

परम्परागत झारखण्डी समाज में पहले

महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार एवं सम्मान प्राप्त था। उत्पादन, घरेलू काम-काज, ग्राम पंचायत तथा विभिन्न सांस्कृतिक क्रिया-कलापों में समान रूप से उनकी भागीदारी थी। किन्तु पूँजीवादी विकास तथा बाहरी पुरुष प्रधान समाजों के सम्पर्क से उन समाजों की कुरीतियों एवं कुसंस्कारों ने हमारे समाज की अच्छाइयों को बरबाद कर दिया है। नतीजे के तौर पर झारखण्डी महिलाएं शारीरिक उत्पीड़न और यौन-शोषण के शिकार हो रही हैं। डाईन कहकर उनकी हत्या की जाती है या गांव से निकाल दिया जाता है।

ऐसी विषम परिस्थिति में उक्त सम्मेलन ने नारी-मुक्ति की समस्या को प्रभावशाली ढंग से झारखण्ड के लोगों के सामने रखा है, जिस पर विचार करना जरूरी है। हमारी झारखण्डी महिलाओं की दुर्दशा का आखिर समाधान क्या है?

क्या महिलाओं को खुद संघर्ष नहीं करना चाहिए? क्योंकि पुरुष-प्रधान समाज में नारी-मुक्ति की बात पुरुषों के गले से नहीं उतरती है; इसलिए इस प्रमुख मुद्दे पर महिलाओं को खुद आगे बढ़कर संघर्ष करना निहायत जरूरी है।

आदिम (आदिवासी) समाज में व्यक्ति अपने सामूहिक कार्यों का अनुकरण नृत्य आदि में करते थे और पुनः शिकार के सामूहिक कृत्य के लिए स्वयं को तैयार करते थे। अतः साहित्य का यह आदिम रूप सामाजिक कर्म के निकट था।

साहित्य इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वह एक सामाजिक कार्य सम्पादित करता है और यह कार्य अन्य ज्ञान-विज्ञान से किसी भी अर्थ में घट कर नहीं। इसलिए साहित्य आज तक जिन्दा रहा है और रहेगा।

—कॉडवेल

झारखण्ड आन्दोलन का एक विश्लेषण

— सीताराम

झारखण्ड आन्दोलन झारखण्ड की जनता के अस्तित्व का आन्दोलन है। भारत में अंग्रेजों के आने के समय से झारखण्ड के आदिवासियों को जंगलों और ज़मीनों पर उनके अधिकारों से वंचित करने, उन्हें बिस्थापित करने और उनका शोषण-उत्पीड़न करने की जो प्रक्रिया शुरू हुई वह आज भी जारी है। ऐसे तो सारा देश अंग्रेजों के उत्पीड़न-शोषण का शिकार था लेकिन आदिवासी इलाकों दोहरे शोषण के शिकार रहे—अंग्रेजों द्वारा भी और भारत की शक्तिशाली राष्ट्रीयताओं द्वारा भी। अंग्रेज चले गए। देश आजाद हो गया। लेकिन आदिवासी इलाकों का राष्ट्रीय शोषण जारी रहा।*

शोषण का चरम रूप यह है कि प्रतिष्ठित और शक्तिशाली राष्ट्रीयताएँ आदिवासियों को राष्ट्रीयता के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं हैं। उनके बारे में इतिहासकारों, मानव विज्ञानियों समाजशास्त्रियों एवं राजनीतिज्ञों ने ऐसी अवधारणाएँ गढ़ीं कि जिनके अनुसार आदिवासी अविकसित मानव है, वे कबीले हैं, प्रतिष्ठित राष्ट्रीयताओं को चम्मच से उनका विकास करना है और उनकी नियति यही है कि अंततः उनको अपने में मिला लिया जाये। यह तमाम सैद्धांतिकरण मूलतः किन्हीं सारगर्भित वैचारिक आधार पर नहीं खड़ा है और न ही यह कोई भोला-भाला

भटकाव है, बल्कि यह एक उद्देश्यपूर्ण प्रयास रहा है; और यह उद्देश्य है आदिवासियों के इलाकों और उनके संसाधनों को हड़प जाना और आदिवासियों का शोषण करना।

और इस दोष और दोषभावना पर परदा डालने के लिए आदिवासियों के विकास, बचाव, उनके भोलेपन, उनकी संस्कृति आदि के बारे में बड़ी-बड़ी बातें की जाती हैं। अगर आदिवासी कुछ प्रतिवाद-प्रतिरोध करें तो उनके इलाके में थोड़ा पैसा भी डाल दिया जाता है।

यह पाखण्ड देश के जनमानस पर छाया हुआ है। लोग सोचते हैं कि “हाँ, कभी-कभी आदिवासी विद्रोह भी करते हैं तो उन्हें दवा देना जरूरी है जैसा कि अंग्रेजों ने किया था।” अंग्रेजों की नीति और भी बड़े पैमाने पर सूक्ष्मता के साथ पूँजीवादी विकास के रथ के चक्कों के नीचे उन्हें कुचलते हुए जारी है।

जब कोई आदिवासी समूह अपनी स्वायत्तता की मांग करता है तब शोषक राष्ट्रीयताएँ उसे सी० आई० ए० का षडयंत्र, मिशनरियों की चाल, अलगाववाद, उग्रवादियों का उकसावा या फिर भूखे आदिवासियों का गुस्सा का नाम देकर उस मांग को नकारते हैं और मांग आन्दोलन और संघर्ष का रूप लेने पर नेताओं को

*राष्ट्रीय शोषण से हमारा अभिप्राय यह है कि शोषक वर्ग अपने नेतृत्व में अपने हितों के लिये राष्ट्र एवं राष्ट्रीय संगठनों का इस्तेमाल अन्य राष्ट्रों एवं राष्ट्रीयताओं के शोषण में करता है।

इस लेख में हम सिर्फ राष्ट्रीय शोषण का ही चर्चा कर रहे हैं। पूँजीवादी वर्ग झारखण्ड का जो शोषण करते हैं वह गम्भीर प्रश्न इस लेख के विचारणीय विषय-वस्तु के बाहर रखा गया है; हालाँकि यह वर्ग शोषण राष्ट्रीय शोषण की प्रक्रिया को काफी प्रभावित करता है। झारखण्ड के वर्ग शोषण एवं राष्ट्रीय शोषण के साथ उसके सम्बन्ध के बारे में हम एक अन्य लेख में चर्चा करेंगे। यहाँ इस बात का भी खयाल रखना चाहिए कि वर्ग शोषण का प्रश्न पूरे देश का समान प्रश्न है। —लेखक

खरीदने और आन्दोलन को कुचलने की ताबड़-तोड़ कोशिश में लग जाते हैं।

झारखण्ड ने अपने ऊपर जुल्म और शोषण का विरोध किया, अंग्रेजों के समय 19वीं शताब्दी में सशस्त्र संग्रामों द्वारा और बाद में जनवादी आन्दोलन द्वारा। 1938 से यानि पिछले 50 साल से बाकायदा संगठित रूप में झारखण्ड प्रान्त की मांग की गई; चुनाव सभाओं आदि द्वारा आन्दोलन के प्रति जन समर्थन को पर्याप्त स्पष्ट किया गया — फिर भी झारखण्ड प्रान्त नहीं बनाया गया। इसका कारण क्या है?

निश्चय ही झारखण्ड प्रान्त न मिलने का कारण यह है कि झारखण्डियों ने ऐसा जोरदार संघर्ष नहीं किया कि उसे प्रान्त देने के लिए सरकार को मजबूर होना पड़े। और शायद यह संघर्ष अन्य प्रांतों के लिए किए गए संघर्ष से अधिक जोरदार होना जरूरी है क्योंकि झारखण्ड के बनने से इसके शोषक राष्ट्रीयताओं को प्रकट-तया अधिक नुकसान होगा जितना किसी अन्य प्रान्त के बनने से नहीं हुआ।

19वीं सदी में हजारों लोगों का बलिदान करने वाले खूनी विद्रोहों की झड़ी जिस झारखण्ड की जनता ने लगा दी थी वह जनता झारखण्ड प्रान्त के आन्दोलन में इतना कमजोर क्यों है?

लगता है कि बिरसा के साथ ही समझौता-हीन संघर्ष का युग खत्म हो गया। 20वीं सदी में आदिवासी विद्रोहों ने झारखण्ड आन्दोलन का रूप धारण किया। विभिन्न जातियों के विद्रोहों के स्तर से ऊपर उठकर व्यापक झारखण्डी जनता की राष्ट्रीयताओं के आन्दोलन का रूप लेना निश्चय ही चेतना के धरातल पर यह एक कदम आगे है।

लेकिन जुझारूपन में झारखण्ड आन्दोलन विद्रोहों के युग से कई कदम पीछे हैं। ऐसे क्यों? ऐसा इसीलिए है कि आदिवासियों ने समझ लिया

है कि वे अपने परम्परागत तरीके से विरोधियों को हरा नहीं सकते। अब विरोधी से लड़ने के लिए विरोधी के तौर-तरीकों को अपनाना होगा। और अब वे दुश्मन के अधीन हैं। लेकिन दुश्मन के तौर-तरीकों के वे आदि नहीं हैं और उनकी आधुनिक सैनिक पद्धतियों में अपने को तैयार करना भी कठिन था; पूंजीवादी व्यवस्था की पाखण्डपूर्ण जटिलताएँ उनके लिए अजनबी थी।

फिर भी वे लड़े लेकिन शीघ्र ही झुकने और समझौता के लिए मजबूर होते गए। नेतृत्व समर्पण करता चला गया। बिल्कुल ही असमान और बहुत शक्तिशाली दुश्मन से लड़ाई की स्थिति में यह समर्पण शायद अनिवार्य था।

समर्पण की प्रक्रिया में नेतृत्व जनता और संघर्ष से कटकर दलाल में परिवर्तित हो जाता और इस तरह प्रतिवाद—प्रतिरोध का एक दौर खत्म हो जाता। इसके बाद नये नेतृत्व नये संगठन के साथ एक नया दौर शुरू होता। यह प्रक्रिया बार-बार चली। शायद यह संघर्ष नागालैंड की तरह समझौताहीन संघर्ष नहीं हो सकता था क्योंकि (1) यह इलाका विरोधियों से घिरा हुआ है (2) शोषक इसमें गहरे पड़े हुए है (3) और इस इलाके में दुश्मन के निहित स्वार्थ बहुत अधिक हैं।

यानि यहाँ संघर्ष और भी कठिन है और इसके लिए अधिक शक्तिशाली नेतृत्व, संगठन और संघर्ष के कार्यक्रम की जरूरत है, जिसके लिए आन्दोलन को और भी उन्नत एवं व्यापक स्तर पर ले जाना होगा। इन उन्नत स्तर के आयामों को जरा चर्चा की जाये —

झारखण्ड का अपना कोई पूंजीपति वर्ग न होने के चलते पूंजीवादी राष्ट्रीय आन्दोलन विकसित नहीं हो सकता था।

झारखण्डी जनता का प्रधान अंश मजदूर और गरीब किसान हैं। झारखण्ड आन्दोलन शोषक

वर्गों के खिलाफ इन शोषित वर्गों के वर्ग-संघर्ष के रूप में विकसित होकर ही शक्तिशाली बन सकता है। लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ। शोषित वर्गों के लिए लड़ने, ट्रेड यूनियन या किसान संगठन बनाने आदि की कोई असरदार प्रक्रिया विकसित नहीं हो पायी। शायद इसलिए नेतृत्व को वर्गों से आर-पार जाने और शोषक वर्गों से तालमेल बैठाने में कोई रुकावट महसूस नहीं हुई। शायद इसीलिए टाटा विरोधी मजदूर आन्दोलन को तोड़ने में कुछ झारखण्डी नेताओं के अन्तःकरण को कोई ठेस नहीं पहुँची। ऐसी स्थिति में पूँजीवाद वर्ग एकता और वर्ग-संघर्ष को तोड़ने में झारखण्ड आन्दोलन का इस्तेमाल करता और कर पाता है।

इस स्थिति को समझने के लिए हमें इन तथ्यों का भी खयाल रखना चाहिए कि स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान झारखण्ड की मांग की उपेक्षा करके कांग्रेस ने झारखण्ड आन्दोलन को देश की राजनैतिक धारा से अलग रखने की भूमिका निभायी, क्योंकि कांग्रेस में वैसी सामाजिक शक्तियों की प्रधानता थी, झारखण्ड आन्दोलन जिनके हितों के प्रतिकूल था। दूसरी तरफ लम्बे अरसे तक कम्युनिस्टों ने झारखण्ड आन्दोलन का विरोध करके आन्दोलन को पूँजीपतियों और पूँजीवादी विचारधारा में धकेलने का काम किया।

दूसरा आयाम है राष्ट्रीयता का प्रश्न। झारखण्डी जनता तीन जाति समूहों में बँटा है जो राष्ट्रीयताओं के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया में हैं (1) मुण्डा जाति समूह (2) उराँव (3) सदान जाति समूह। इनके एकीकरण और विकास की प्रक्रिया मन्द है, जो झारखण्ड आन्दोलन की गति को प्रभावित करता है।

झारखण्ड के भाषाई और सांस्कृतिक आन्दोलनों को तेज करके राष्ट्रीयताओं के विकास की प्रक्रियाएँ तेज की जा सकती हैं जो झारखण्ड आन्दोलन को तेज करेंगी। साथ ही यह भी सच है कि झारखण्ड की विभिन्न शोषित और पीड़ित

हिस्सों के समान उद्देश्यों के लिए चलाया गया झारखण्ड आन्दोलन इस विकास और एकीकरण को तेज करता है।

तीसरी बात। झारखण्डियों में पर्याप्त संख्या में शिक्षित समुदाय के विकसित होने के बावजूद समाज के इन शिक्षित सदस्यों ने झारखण्ड आन्दोलन के विकास में बुद्धिजीवियों की भूमिका अदा नहीं की हालाँकि वे इससे लाभान्वित थे और इसके समर्थक थे। झारखण्डी साहित्य की रचना, भाषाओं का विकास करना, इतिहास लेखन, शोध पत्र-पत्रिकाएँ निकालना, आन्दोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि को विकसित करना आदि दर्जनों काम करके वे झारखण्ड आन्दोलन के बौद्धिक आधार को मजबूत कर सकते थे जो उन्होंने नहीं किया। इससे आन्दोलन दिशाहीन और कमजोर रहा।

लेकिन उपरोक्त स्थिति जड़बत बनी नहीं रही। झारखण्ड आन्दोलन अपनी इन कमजोरियों से जुझने की प्रक्रिया में लगातार प्रयास करता रहा जिसके परिणाम सकारात्मक हुए हैं। इस आन्दोलन ने झारखण्ड की जनता में किसी हद तक आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास भरा है; इस आन्दोलन के दबाव से सरकार आदि-वासियों के लिए कल्याण योजनाओं और आरक्षण (आरक्षण और कल्याण योजनाओं के बारे में एक आलोचना यह है कि आरक्षण का इस्तेमाल शासकों ने जनता के सूचेत एवं शिक्षित अंश को एक चारा के रूप में करके आन्दोलन में उनकी नेतृत्वकारी सम्भावनाओं को खत्म कर दिया। और कल्याणकारी योजनाएँ भी मुठ्ठी भर लोगों को सुविधाएँ प्रदान करते हुए सुविधावादी बनाता है जिससे वे समग्र अधिकारों के आन्दोलन से अलग-अलग पड़ जाते हैं।) के कार्यान्वयन द्वारा यहाँ की जनता को कुछ देने के लिए मजबूर होती रहीं।

इस आन्दोलन द्वारा सृजित चेतना से झारखण्डियों में अपने अधिकारों के लिए लड़ने की

क्षमता का विकास हुआ है और साथ ही साथ आन्दोलन की वैचारिक आधार तथा नेतृत्व की क्षमता में धीरे-धीरे विकास आया है।

विरसा सेवा दल और झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के जन्म में वर्ग-संघर्ष के तत्त्व प्रकट हुए; अल्पकाल में ही उन तत्त्वों के लुप्त होते दिखने पर भी धीरे-धीरे इन तत्त्वों की पैठ बढ़ने लगी। इन तत्त्वों के विकसित होने में समाजवादी विचारों और शक्तियों की भूमिका थी। हिरण्मय राय, और ए० के० राय से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे समाजवादी शक्तियों ने झारखण्ड आन्दोलन के औचित्य को महसूस करना शुरू किया और इसके साथ जुड़ने लगे।

पंडित रघुनाथ मुरमू एवं अन्यान्य झारखण्डी सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं के प्रयासों से धीरे-

धीरे राष्ट्रीयताओं के विकास का आधार मजबूत होने लगा है।

पिछले वर्षों में आन्दोलन में झारखण्डी छात्रों और बुद्धिजीवियों का एक उभार आया है। झारखण्ड के प्रश्न पर गोष्ठियों का एक सिलसिला शुरू हुआ है।

वर्ग-संघर्ष, सांस्कृतिक आन्दोलन, बुद्धिजीवी, छात्र, महिला — इन तत्त्वों के झारखण्ड आन्दोलन में प्रकट होने के साथ झारखण्ड में एक नई चेतना आई है; झारखण्डी ताकतों ने झारखण्ड समन्वय समिति के रूप में एकता कायम की है और जुझारू संघर्ष के कार्यक्रम पर कदम बढ़ाया है। यह एक नया दौर है, निश्चय ही गुणात्मक रूप से एक उन्नत धरातल पर।

